उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ दिसम्बर—१९८६ अंक—१२

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रमती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	१५० रु०
वार्षिक	२० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	२८ रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें :

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जो ईश्वर प्राप्ति के लिए साधन-भजन करना चाहते हैं, उन्हें कामिनी-कांचन की आसक्ति से बचने के लिए विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए, अन्यथा उन्हें सिद्ध अवस्था कभी नहीं मिल सकती।

(२)

बरसात का पानी ऊँची जमीन पर ठहर नहीं पाता, बहकर नीची जगह में ही जमता है। वैसे ही ईश्वर की कृपा भी नम्र व्यक्तियों के ही हृदय में ठहरती है, अहंकार-अभिमानपूर्ण हृदय में नहीं।

(३)

जिस प्रकार लुहार बीच-बीच में धौंकनी चलाकर भट्ठी की आग को बनाए रखता है, उसी प्रकार साधु-संग के द्वारा मन को सचेत बनाए रखना चाहिए।

(४)

आत्मज्ञान लाभ के लिए साधना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु यदि दृढ़ विश्वास रहे तो थोड़ी ही साधना से काम बन जाता है।

(५)

इस कलियुग में यदि ईश्वर के लिए तीन दिन भी व्याकुल होकर तो ईश्वर की कृपा से वह सिद्ध हो सकता है।

(६)

अगर शक्कर और बालू मिली हुई हो तो चीटीं उसमें से बालू का कर शक्कर को ही ग्रहण करती है। इसी तरह परम-हंस और सत्पुरुषगण अच्छे और बुरे के मिश्रण में से अच्छे को ही ग्रहण करते हैं।

श्रीसारदा-वन्दन

—डॉ० केदारनाथ लाभ

दोहा— माता श्यामासुन्दरी, रामचन्द्र पितु गेह।
जगदम्बा भवतारिणी, उतरी ले नव देह ॥१
अगहन कृष्ण सप्तमी, दिन पुनीत गुरुवार।
हुआ सारदा का परम, करुणामय अवतार ॥२

छंद— जयरामबाटी पुण्य-घाटी सहज सुकृति सहोदरा
चिर मनोभावन भूमि पावन शस्य श्यामल उर्वरा।
मंगल-विधात्री शान्ति-दात्री लोक-शोक-तिमिर-हरा
अवतरीं माता दिव्यगाता विमल बुद्धि ऋतम्भरा ॥

दोहा— गूँज उठी शत शंखध्वनि, गूँजे सुललित गान।
नत वन्दन करने लगे, सुर-मुनि वेद-पुराण ॥३

चौपाई— जय जय माँ सारदा सुनीता। विश्व-वन्दिता परम पुनीता ॥
जय श्यामासुन्दरी किशोरी। रामचन्द्र-दुहिता अति भोरी ॥
जय जय भुवन विमोहिनि माता। जय,शुचि रुचि मुख मंगल दाता।
जय करुणा-वरुणा कल्याणी। जय संतति-वत्सला अमानी ॥
तुम हीं उमा जानकी राधा। त्याग याग तप प्रीति अगाधा ॥
तुम ही ज्ञान कर्म की भाषा। अचल भक्ति की तुम परिभाषा ॥
पावन तन मन जीवन गंगा। निर्मल छवि रवि-रश्मि अभंगा ॥
रामकृष्ण गत प्राण तुम्हारे। रोम-रोम तन्नाम उचारे ॥

सोरठा— हरने को भू-भार, तुम आयी संसार में।
लीला परम अपार, कौन तुम्हारी गा सके ॥४

छंद—अक्षय सुहागिनि ! चिर विरागिनि ! हे अमर वरदायिनी।
माँ सारदेश्वरि ! हे शुभेश्वरि ! भक्ति दो अनपायिनी ॥
कर दो विमल मन अमल जीवन देवि यह वर दो मुझे।
अपनी शरण में अंत क्षण में अभय कर धर लो मुझे ॥

दोहा— तारक शरत् नरेन्द्र शशि, लाटू हरि राखाल।
स्नेह-सुधा तव पान कर, सब हो गये निहाल ॥५
माँ दो निज पद पद्म में, नित अखंड विश्वास।
कटें बंध-भव-उर-तिमिर, मिटे ताप-त्रय-त्रास ॥६

सम्पादकीय सम्बोधन

माँ

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

मेरा हृदय भर आता है, जब मैं माँ का—श्रीमाँ सारदादेवी का—चिंतन-अनुचिन्तन, ध्यान-अनुध्यान करने लगता हूँ।

माँ—इस परम पावन एकाक्षर शब्द पर ध्यान करते-करते मैं प्राय: आत्मस्थ हो जाता हूँ। माँ—विश्व का यह पवित्रतम शब्द है। सृष्टि का यह परम मनोरम, हियहारी, शान्ति-दायक संगीत है। इसी से भगवान् शिव के डमरू से निनादित सप्त स्वरों के केन्द्र में 'म' है, जो माँ का प्रतीक है। सारा जगत् इस मातृ-संगीत से ओतप्रोत है। प्रात: कालीन पक्षियों की चहचहाहट में, भौंरों की गुनगुनाहट में, पत्तों की मर्मराहट में, मेघ के गर्जन में, सागर के ज्वार-भाटों में, वासंती समीर और भैरवी मुद्रा में बलखाती नाँचती आँधी में एक ही ध्वनि—माँ-माँ की ध्वनि—उठती-गिरती गूँजती-थिरकती सुनाई पड़ती है। सर्वत्र एक ही नाद है—माँ! सर्वत्र एक ही पुकार है—माँ। निश्चय ही यह निखिल जगत् उस चिन्मयी माँ का ही विराट् आत्म प्रसार है। इसी से देव्यथर्वशीर्ष में देवी कहती हैं—**अहमानन्दानानन्दौ। अहं विज्ञानाविज्ञाने। अहं ब्रह्माब्रह्मणी वेदितव्ये। अहं पंचभूतान्यपंचभूतानि। अहमखिलं जगत्।** अर्थात्, मैं आनन्द और अनानन्दरूपिणी हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। जानने योग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ।

श्रीमाँ सारदा उसी ब्रह्ममयी आद्याशक्ति की साकार प्रतिकृति हैं, उसी चिन्मयी सत्ता की परमपावनी ब्रह्मवारि स्वरूपा करुणा की मूर्ति हैं। उनमें एक साथ ही पार्वती की पवित्रता और तप: परायणता, सीता की धीरता और तितिक्षा, सावित्री की साहसिकता और दमयन्ती की मानवीयता समाहित हो गयी थीं। अनन्त-अनन्त सद्गुणों की शतवर्तिका थीं माँ। माँ का अर्थ ही है सद्गुणों की पुष्पित वल्लरी। इसी से माँ केवल माँ थीं—सत् की माँ और असत् की भी माँ; ज्ञानी की माँ और मूर्ख की भी माँ, ब्राह्मण की माँ और चाण्डाल की भी माँ। और वह भी केवल दूर की माँ नहीं, बिल्कुल अपनी माँ। उनका स्वयं का कथन है—'बेटा, मैं तुम्हारी मुँहबोली माँ नहीं, झूठ-मूठ की माँ नहीं, मैं तुम्हारी सच्ची माँ हूँ, सच्ची माँ।' और इस सच्ची माँ होने के कारण ही उन्होंने अपनी संततियों को, अपनी समकालीन एवं भावी समस्त संततियों को अभय और आश्वस्ति की वाणी दी—"बेटे, डरो मत। सर्वदा याद रखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

यह अभयदात्री, वरदात्री माँ सदैव आपके साथ हैं, सदैव मेरे साथ हैं, सदैव और सर्वत्र सबके साथ हैं। यह क्या साधारण आश्वासन की वाणी है? नहीं! यदि इसे हम किस्से-कहानी की तरह पढ़ लेंगे—बाँच लेंगे, तो यह वाणी मात्र कुछ शब्दों का निष्प्राण-निर्जीव गट्ठर होकर रह जायगी। और यदि

हम इस वाणी को अपनी अनुभूति और अपने आचरण के धरातल पर ला सकेंगे तो यह वाणी हमारे लिए एक जीवंत, जाग्रत बीज मंत्र का कार्य करेगी। यह हमारे पूरे जीवन को पलट देगी, रूपान्तरित कर देगी।

"बेटे, डरो मत, सर्वदा याद रखो, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"—यह निश्चय ही एक बहुत बड़े अभय की वाणी है, बहुत बड़ी आश्वस्ति की, निश्चिन्तता की, निर्भयता की वाणी है। किन्तु, साथ ही इस वाणी में एक बहुत बड़ी चुनौती भी है, एक बहुत बड़ी परीक्षा भी है। आप कल्पना करें कि आपकी माँ आपके साथ हैं। तो ऐसी स्थिति में क्या आप किसी रूपवती युवती की ओर कुदृष्टि से देख सकेंगे? आपकी माँ आपके साथ हैं, तब आप क्या अपने मन में कोई कुभाव पाल-पनपा सकेंगे? आपकी माँ जो आपके साथ हैं, तब आप कैसे किसी को लूटेंगे? कैसे किसी को छलेंगे? आपकी माँ जो आपके साथ हैं! आप हिंसा करने पर उतारू ही नहीं हो सकते। आप किसी के साथ बलात्कार कर ही नहीं सकते। आपकी माँ जो आपके साथ हैं! आपकी माँ आपके साथ हैं, फिर आप कुमार्ग पर चल नहीं सकते।

माँ का सदा-सर्वदा हमारे-आपके साथ होना एक बहुत बड़ा खतरा है। खतरा इसलिए कि हम तो भोग में जीने के आदी हैं, अहंकार में रहने, फूलने-फलने के अभ्यासी हैं, पौरुष के मद में इठलाकर हिंसा, अनाचार, कदाचार और अनेकानेक विकारों में पलते-पनपते रहे हैं। लेकिन यदि माँ सदैव हमारे साथ हो तो हमें इन प्रवृत्तियों से मुँह मोड़ना होगा। हमें अपनी जिन्दगी की राह बदलनी होगी। हमें अपने पूरे बदलाव के लिए तैयार होना होगा, प्रतिबद्ध होना होगा।

माँ के सदैव अपने साथ होने का अनुभव करना जिन्दगी में एक बड़ी क्रान्ति का घटना होगा। यह एक बड़े साहस का, एक बड़ी छलांग लगाने का काम होगा। माँ का सदैव साथ होना भोग से योग की ओर हमें ले जायगा, घृणा से प्रेम की ओर हमें ले जायगा, हिंसा से करुणा तथा प्रतिशोध से क्षमा की ओर हमें ले जायगा। यह जीवन के प्रति हमारी पूरी की पूरी दृष्टि को ही बदल डालेगा, हमारी जीवन शैली को ही परिवर्तित कर देगा। सच पूछिए तो माँ का सदैव साथ होना हमारे वर्तमान रूप को मार डालेगा और हमें एक नया जीवन प्रदान करेगा। माँ के सदैव साथ होने से हम जीवन की एक नयी यात्रा की शुरुआत करेंगे—उच्चता और दिव्यता और जीवन की धन्यता की ओर जाने की यात्रा की शुरुआत करेंगे।

माँ हमारे सदैव साथ हैं, इस अनुभव के होने से ही सब कुछ हो गया। फिर किसी धर्म-साधना, किसी जप-तप, किसी ध्यान-धारणा की कोई आवश्यकता ही नहीं शेष रह जाती। हम स्वयं ही अपने आत्म स्वरूप में, अपने सत्-चित्-आनन्दमय स्वरूप में प्रवेश कर जायँगे। जरूरत केवल इस बात की है कि हम प्रतिक्षण यह अनुभव करें कि माँ हमारे साथ हैं।

श्रीमाँ सारदा से मेरी प्रार्थना है कि वे हम सब को यह अनुभूति प्रदान करने की कृपा करें कि वे सदैव हमारे साथ हैं। जय श्री माँ सारदा!

आधुनिक युग में माँ सारदा का अवदान

—श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द
पूर्व अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

त्रुटियों एवं अन्ध-विश्वासों से मुक्त करके तथा पतन से इसकी रक्षा करके धर्म के वास्तविक स्वरूप को हमारे समक्ष उद्घाटित करने के लिए ही रामकृष्ण विवेकानन्द का आगमन हुआ था। श्री रामकृष्ण के साथ माँ सारदा भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु अवतरित हुई थी।

हमलोग थोड़ी इस बात की चर्चा करें कि माँ ने हमलोगों को क्या दिया? बाह्य रूप से उनमें कोई विशिष्टता नहीं दिखाई देती है। उन्होंने एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत किया था। लेकिन उनके जीवन में एक मधुरता थी। प्रारंभ में मैं इसकी धारणा नहीं कर सका। जब "श्री श्री मायेर कथा" का प्रथम एवं द्वितीय खण्ड प्रकाशित हुआ तो मैंने दोनों खण्डों को बड़ी उत्सुकतापूर्वक पढ़ डाला। एक भक्त महिला—जो अक्सर माँ के पास आती थी—ने श्री माँ की दैनिक घटनाओं को लिपिबद्ध कर रखा था। उक्त पुस्तक के प्रथम खण्ड में श्री-श्री माँ के दैनिक जीवन की घटनाओं का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में उनके उपदेशों का संग्रह है। दोनो खण्डों को पढ़ने के बाद मुझे द्वितीय खण्ड अधिक पसंद आया। प्रथम खण्ड भी निःसन्देह अच्छा था, लेकिन मैं यह नहीं समझ सका कि उसकी क्या विशेषता थी। जब पुस्तक का अँग्रेजी रूपान्तर हुआ और उसे अमेरिका भेजा गया तो पता चला कि अमेरिकन महिलाओं ने द्वितीय खण्ड की अपेक्षा प्रथम खण्ड को ही अधिक पसंद किया। वे अपने आदर्शों के माध्यम से शांति नहीं पा रही थीं। अतएव, इस बात की खोज में थीं कि भारतीय-नारी पारम्परिक रूप से किस तरह का जीवन व्यतीत करती है। इसे वे माँ की जीवनी में पा गयीं। वे सब शांति-प्राप्ति का तरीका चाह रही थीं। यही कारण है कि उनलोगों ने प्रथम खण्ड को पसंद किया।

हमारे देश की महिलाएँ प्राचीन भारतीय आदर्श भूल रही हैं। हमारे देश में, वर्त्तमान समय में, उसी आदर्श पर चलने की जरूरत है। नारी-सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों को पढ़कर हम यह कह सकते हैं कि हमारे देश की महिलाएँ भारतीय आदर्श को भूलकर पाश्चात्य नारियों के आदर्श को अपना रही हैं। इससे हम उनके विचारों के झुकाव को समझ सकते हैं। भारतीय महिलाएँ उन्हीं पाश्चात्य आदर्शों की ओर तीव्र गति से बढ़ रही हैं जिनके मायाजाल से पाश्चात्य-महिलाएँ अपने-आप को मुक्त करने में लगी हैं। श्री श्री माँ ने आदर्श जीवन दिखाया जिसे जीकर शांति पायी जा सकती है। भारतीय-महिलाओं को इसी आदर्श को अपनाना होगा।

माँ के जीवन की विशिष्टता उनके विश्वजनीन मातृत्व में है। जो कोई भी उनके पास गया वह उनके प्रेम से अभिभूत हो गया। केवल वे ही नहीं, जो उनके पास आध्यात्मिक-शिक्षा प्राप्त करने जाते थे, बल्कि वे भी, जो घर में या खेतों में कार्य करते थे, उनके प्रेम-बन्धन में बँध जाते थे। श्री-श्री माँ के लीला-संवरण के कई वर्ष बाद भी वे कभी-कभी वहाँ जाया करते थे। किसी के यह पूछने पर कि "तुम अभी भी यहाँ क्यों आते हो ?" वे कहते कि "हमलोग माँ के प्रेम को भूल नहीं सकते हैं।" अभी भी माँ की चर्चा मात्र से उनकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। इसी से हम यह समझ सकते हैं कि माँ के प्रति वे किस प्रकार का आकर्षण-बोध करते थे। वे माँ के प्रेम को भूल नहीं सकते हैं। जाने

या अनजाने रूप से भी यदि कोई ईश्वर के प्रति इस तरह का आकर्षण-बोध करे तो उसकी मुक्ति निश्चित है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि श्री-श्री माँ के प्रति अपने प्रेम के कारण पाश्चात्य भक्त-महिलाएँ भी मुक्त हो जायेंगी।

हमारे संघ के प्रति माँ का अवदान अगणित है। यदि माँ न होती तो इसमें सन्देह है कि श्री रामकृष्ण के सभी संन्यासी शिष्य संघ बद्ध होकर एक साथ रह पाते। अधिक संभावना थी कि वे विभिन्न स्थानों में जाकर तपस्या में अपना जीवन व्यतीत कर देते। श्री श्री माँ के स्नेह के कारण ही एक धार्मिक संघ के रूप में वे एक साथ रहे। इसके अलावे जब माँ बोध गया गयीं तो वहाँ के मठ को देखकर उन्होंने श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना की कि उनकी सन्तानों के लिए भी इसी तरह का मठ हो जहाँ वे एक साथ रह सकें। आज जो यह मठ-मिशन देखते हो, यह इसी प्रार्थना का फल है। फिर किसी के लिए भी वास्तव में रामकृष्ण और विवेकानन्द को उस रूप में समझना असंभव था जिस रूप में माँ ने उन्हें समझा था। यद्यपि वह एक साधारण ग्रामीण महिला थीं तथापि सोचने समझने की अद्भुत क्षमता उनमें थी। विदेश से लौटने पर स्वामीजी ने अब साधुओं के द्वारा किये जाने वाले सेवा कार्यों का श्रीगणेश किया तो अनेक लोगों ने—जिनमें उनके कुछ गुरुभाई भी थे—सोचा कि ये पाश्चात्य विचार हैं और श्रीरामकृष्ण के विचारों के अनुरूप नहीं हैं। निःसन्देह, शीघ्र ही गुरुभाइयों ने स्वामीजी के विचारों को स्वीकार कर लिया, लेकिन फिर भी कुछेक लोगों के मन में सन्देह बना ही था। मास्टर महाशय (श्री रामकृष्ण वचनामृत के लेखक) का भी यही दृष्टिकोण था। मास्टर महाशय के कारण उद्बोधन-गृह के कुछ संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों के भी मन में वही सन्देह घर कर गया। उन्होंने माँ से इसके बारे में पूछा। माँ ने उत्तर दिया, "मास्टर को जो अच्छा लगे कहने दो, नरेन जो कुछ कर रहा है, वह श्रीरामकृष्ण के विचारों के पूर्ण अनुरूप है।" फिर उन्होंने पूछा, 'क्या उद्बोधन एवं अन्य पुस्तकों का प्रकाशन भी श्री रामकृष्ण के विचारों के अनुरूप है?" माँ ने जवाब दिया,—"हाँ, ये भी हैं।" इस तरह एक ही वाक्य में स्वामी जी का मूल मंत्र—आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च—को पूर्ण समर्थन उन्होंने प्रदान कर दिया।

जब माँ वाराणसी गयीं तो सेवाश्रम के नजदीक एक मकान में ठहरीं। एक दिन वह सेवाश्रम देखने गयीं और लौटते समय बोलीं "मैंने जाकर अस्पताल, देखा। वहाँ ठाकुर अधिष्ठित हैं, सर्वत्र व्याप्त है।" फिर उन्होंने दस रुपये का नोट दान-स्वरूप भिजवाया। उस नोट को अभी तक सेवाश्रम में सुरक्षित रखा गया है। इस प्रकार माँ ने संघ की कई समस्याओं का समाधान कर दिया।

माँ ने विश्व को क्या दिया? उन्होंने मातृत्व का आदर्श दिया। उन्होंने अपने जीवन में प्राचीन भारतीय आदर्श को धारण किया ताकि उनके जीवन को देखकर महिलाएँ आदर्श जीवन यापन कर सकें। इन दिनों भारतीय महिलाएँ आगे आ रही हैं और प्राचीन युग के अनुसार रसोईघर में सीमित न रहकर विभिन्न प्रकार के क्रिया-कलापों में भाग ले रही हैं। उनमें कुछ राजनीति में तो कुछ चिकित्सा कार्य में कुछ सेवाकार्य में तो कुछ अन्य कार्यों में भाग ले रही हैं। इस प्रकार उनका कार्य-क्षेत्र सर्वत्र फैल गया है। वस्तुतः इसकी आवश्यकता है, लेकिन साथ ही इस क्रिया-कलापों में फँसने से आँखों से आदर्श के ओझल होने का डर भी है।

यही कारण है कि माँ ने एक आदर्श-जीवन दिखाया। मानो कि उन्होंने आदर्श का एक खांचा तैयार कर अपनी संततियों के लिए इसे पीछे छोड़ गयीं। हमारे देश में नारी का आदर्श मातृत्व और पवित्रता है। हमारी बालिकाओं को माँ के जीवन-साँचे में अपने आप को ढालना होगा, उन्हें भारत के अपने आदर्श को दृढ़तापूर्वक पकड़ना होगा और साथ ही नयी परिस्थितियों के अनुसार चलना होगा। माँ ने जिस आदर्श को दिखाया है वह केवल भारत वर्ष के लिए ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के लिए है। अतएव, श्री श्री माँ के पद्-चिन्हों का अनुसरण कर उसी के अनुसार अपने जीवन को ढालने से नारी जाति का कल्याण तो होगा ही साथ ही विश्व का भी कल्याण होगा।

('स्पिरिचुअल आइडियल फॉर द प्रेजेन्ट एज' नामक पुस्तक से साभार अनूदित। अनुवादक: श्री रामेश्वर यादव, पटना।)

माँ सारदा का वैवाहिक जीवन

—डॉ श्रीमती हीराबाई बोरदिया
इन्दौर।

जब हम माँ शारदा के वैवाहिक जीवन पर विचार करते हैं, तब अनायास ही हमारा ध्यान 'गृहस्थाश्रम' की ओर आकर्षित होता है। क्योंकि वैवाहिक जीवन गृहस्थाश्रम से ही सम्बन्धित है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास, इन तीनों में से गृहस्थाश्रम का महत्त्व कम नहीं है। क्योंकि अन्य तीनों आश्रम इसी पर आधारित हैं। वैराग्य का कमण्डलु भी गृहस्थाश्रम के द्वार पर ही अलख जगाता है। मनु के अनुसार भी गृहस्थाश्रम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनका निम्नांकित श्लोक हमारे कथन की पुष्टि करता है।

"सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि॥

—इन चारों आश्रमों में उत्तम वेद तथा स्मृतियों की कथित विधि के अनुसार कर्त्तव्य कर्म करने वाला गृहस्थ कहा गया है। क्योंकि उसी सद्गृहस्थ के द्वारा शेष तीन आश्रमों की सदैव सब प्रकार से रक्षा होती है।'

—मनुस्मृति, अध्याय ६, श्लोक ८९

किंतु इतना होते हुए भी गृहस्थाश्रम में रहकर, वैवाहिक जीवन व्यतीत करते हुए आध्यात्मिक साधना करना, असंभव भले ही न हो किन्तु दुष्कर अवश्य है। और यह सर्वविदित तथ्य है कि माँ सारदा श्रीरामकृष्ण देव की सहधर्मिणी ही नहीं थीं बल्कि वे भी एक आध्यात्मिक विभूति थीं। वे स्वयं भी आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थीं।

अब हमारे सामने एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि माँ सारदा का वैवाहिक जीवन कैसा रहा होगा? विवाहित होते हुए भी कैसे उन्होंने देहधर्म के विपरीत त्याग एवं तपस्या के असिधारावत पथ को अंगीकार किया होगा। सहज शब्दों में कहें तो कहना होगा कि कैसे उन्होंने असंभव को संभव बनाया होगा?

श्रीमाँ अपने गृहस्थ जीवन को, अपने वैवाहिक जीवन के भवन को, त्याग की नींव पर खड़ा करना चाहती थीं। उनके सामने एक आदर्श था जो उदारता, सात्विक प्रेम, समर्पण एवं विनय से पुष्ट एवं पोषित था। इसमें ठाकुर की शिक्षा एवं उनके मौलिक गुण दोनों का हाथ था। यद्यपि ठाकुर के जीवित रहने तक उनके उक्त गुण राख से ढकी चिन्गारी की तरह गुप्त ही रहे किंतु, आग आग ही होती है चाहे वह चिन्गारी के रूप में हो या मशाल के रूप में। ठाकुर के लीला संवरण के बाद वे एक आध्यात्मिक मशाल के रूप में प्रकट हुईं जिसके आलोक में कोटि कोटि लोगों के आध्यात्मिक पथ का अन्धकार तिरोहित हुआ। किंतु ऐसा बनने के लिए उन्हें कितनी कठोर साधना करनी पड़ी होगी इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि कहाँ एक गँवई गाँव जयरामवाटी की ग्राम कन्या और कहाँ श्री ठाकुर की आध्यात्मिक उच्चता! किंतु इतना गहरा अन्तर होते हुए भी ठाकुर ने उन्हीं को अपनी सहधर्मिणी बनाया और माँ ने भी ठाकुर के चरणों में सर्वात्म समर्पण कर दिया था। अतः इन दोनों ने आध्यात्मिक साधना को महत्त्व देते हुए भौतिक सुखों की उपेक्षा कर दी। जिसके लिए नव दम्पत्ति अपनी उत्कट इच्छा प्रकट करते हैं, उसका इन दोनों ने तृण वत् परित्याग कर दिया। यह आज के लोगों के लिए, विशेष युवक-युवतियों के लिए एक महान सीख का विषय है। ठाकुर ने सारदामणि में उसी जगन्माता का दर्शन किया जिसे वे माँ के रूप में मन्दिर में देखा करते थे। इस

तो उन्होने माँ की षोडशी पूजा की थी !

श्री ठाकुर ने माँ के साथ विधिवत विवाह किया था। ससुराल जाकर स्वयं अपनी पत्नी को गाँव ले आये थे श्रीराम कृष्ण की माँचन्द्रमणि ने नववधू के गहने, जो किसी से चढ़ाने-के लिए माँगकर लाये गये थे, गदाधर से उतरवा लिये। यद्यपि ऐसा करने में सासु चन्द्रमणि को मर्मान्तिक पीड़ा हुई थी किंतु तपःमूर्ति, त्यागपूत, सर्वदेवदेवीस्वरूप ठाकुर के लिए यह सामान्य बात थी। वे प्रारंभ से ही, बालिका-वस्था से ही अपनी वधू के मन में कांचनासक्ति नहीं आने देना चाहते थे। दोनों के आचार-व्यवहारों के ऊपर दृष्टिपात करने पर हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। शारीरिक संबंध नहीं रहते हुए भी दोनों में कितना सात्विक, कितना स्नेहिल संबंध था ? उनके सात्विक स्नेहपूर्ण संबंध को जानने के लिए उन दोनों के जीवन के एक प्रसंग को देखिए।

एक बार श्री ठाकुर कहीं जाने के लिए तैयार हुए। किसी ने पूछा—'श्री माँ नहीं जायेंगी' ? ठाकुर ने उत्तर दिया—"उसकी इच्छा" माँ को जब इस बात का पता चला तो वे नहीं गयीं। ठाकुर को जहाँ जाना था, गये और लौटने पर उन्होंने कहा—"अच्छा हुआ, वह नहीं आयी। वरना लोग कहते— हंस-हंसिनी का जोड़ा साथ ही रहता है।" इस तरह ठाकुर के सूक्ष्म संकेत का भी माँ कितना ध्यान रखती थीं और ठाकुर भी कामकांचना-सक्ति विहीन होते हुए भी लोक निन्दा का कितना ध्यान रखते थे ? यह आज के लोगों के लिए अनुकरणीय उदाहरण है।

दक्षिणेश्वर आने के पश्चात् श्री ठाकुर ने श्री माँ को नौबतखाने के छोटे से कमरे में रखा। विविध असुवि-धाओं के बाद भी माँ वहाँ आनन्दित रहती थीं क्योंकि परमानन्द की अनुभूति करने वाले के लिए बाह्य सुखों की उपादेयता समाप्त हो जाती है। बाद में वे कहतीं भी थी, 'वे दिन कष्ट के तो थे, किन्तु बहुत आनन्द के भी थे'। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे उनके सात्विक प्रेम का परिचय प्राप्त होता है।

आज के अतिशय भौतिकतावादी युग में पति-पत्नी बहुत कठिनता से एक दूसरे के साथ सामंजस्य बैठा पाते हैं। धार्मिक कार्य करना, और आध्यात्मिक उन्नति की साधना करना तो पिछड़ापन माना जाता है। उनमें आंतरिक प्रेम का अभाव होता है तथा एक दूसरे के प्रति उनमें उस समर्पण का अभाव होता है, जो पति-पत्नी के प्रेम-तंतु को पुष्ट करता है। इसलिए वे एक दूसरे के पूरक नहीं बन पाते। विवाह से पूर्व वर-वधू अपने हृदय में अरमान संजोये रहते हैं। पर वे एक दूसरे से सामंजस्य नहीं बठा पाते। क्योंकि उनके वैवाहिक जीवन का आधार ही भौतिक सुख होता है। ऐसी स्थिति में उनसे वैवाहिक जीवन की मर्यादा की रक्षा की आशा कैसे की जा सकती है ?

श्री माँ में समर्पण की भावना, जो आदर्श गृहस्थ जीवन के लिए एक विशेष गुण माना जाता है, बहुत उच्च कोटि की थी। श्री ठाकुर के सान्निध्य से वे आध्यात्मिक ही नहीं, व्यावहारिक बातों में भी प्रवीण हो गयी थीं। ठाकुर जो मन में सोचते, श्री माँ पहले ही उस कार्य को पूरा कर कर लेती थीं। विभिन्न रुचियों वाले भक्तों की इच्छा की पूर्ति करना माँ की व्यवहारपटुता को दर्शाता है।

यह तो सर्वविदित है कि उन्होंने 'ठाकुर' से कभी किसी वस्तु की माँग नहीं की। किसी प्रकार की चाह, या कामना-वासना उनके हृदय में थी ही नहीं। उन्होंने कभी भी पति की अवमानना नहीं की। यह बात हमें बहुत कम नारियों में दिखाई देती है। शिव की पत्नी सती जैसी देवी ने भी अपने पति की उपेक्षा की थी। अपने पिता दक्ष के यहाँ जब शिव के मना करने के बाद भी वे गयीं और वहाँ पति के लिए देवताओं में कहीं स्थान नहीं देखा तब कुपित होकर यज्ञकुण्ड में उन्होंने आत्माहुति दे दी। यह घटना पति के प्रति उनके प्रेम को तो दर्शाती है किंतु इसके साथ ही पति की अवमानना का जो कलंक उनके माथे पर लगा उसे धोया नहीं जा सकता। आज भी समाज में यह कहावत प्रचलित है, "सती ने पति की बात नहीं मानी इसलिए उनकी यह गति हुई।" किन्तु माँ ! माँ ने तो ऐसा

कुछ नहीं किया। अतः माँ कुछ क्षेत्रों में उन नारियों को भी पीछे छोड़ देती हैं जिन्हें आदर्श भारतीय नारी का मापदण्ड माना जाता है। वर्तमान युग की नारियों के लिए श्री माँ का यह गुण प्रेरणा का स्रोत है। यद्यपि माँ का अनुकरण करना सहज नहीं, किन्तु उनके चरित्र की विशेषताओं का अध्ययन-मनन एवं चिन्तन के द्वारा, एक अंश भी आज की नारी अपने आचरण में समाहित कर ले तो उसकी बहुत सी समस्याओं का समाधान तो हो ही जायेगा साथ ही जीवन भी आनंद एवं सुख से परिपूर्ण हो जायेगा। अतः आधुनिक महिलाओं को उन्हें अन्य देवी-देवताओं की तरह मात्र उत्सव के दिन पूजन की-प्रतिमा न मानकर, उनके गुणों को अपने जीवन में उतारना चाहिए। माँ की सर्वश्रेष्ठ पूजा यही होगी।

ठाकुर के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा का इस बात से पता चलता है कि ठाकुर की महासमाधि के बाद भी वे परम्परागत विधवा का वेष नहीं धारण कर सकीं। गाँव की महिलाओं द्वारा आपत्ति उठाने पर उन्होंने अपने सोने के कड़े निकालकर फेंकने का निश्चय किया था। किन्तु, स्वप्न में ठाकुर द्वारा इसका निषेध करने के बाद, उन्होंने अपने निश्चय का परित्याग कर दिया। पति के रहते और पति के शरीर के शांत होने के बाद भी पति की इच्छा को ही सर्वोपरि मानने वाली कितनी महिलाएँ हैं? साथ ही सामाजिक रूढ़ियों को नकारने की, उन्हें ध्वस्त करने की क्षमता रखने वाली श्री माँ के समान कितनी महिलाएँ हैं?

□

गीता जयन्ती के अवसर पर

'मामनुस्मर युध्य च'

—स्वामी वेदान्तानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

कौरव और पाण्डव-पक्ष की सेनाएँ युद्ध के लिए पूर्णरूप से प्रस्तुत हैं। केवल प्रस्तुत नहीं हैं बल्कि, युद्ध आरम्भ हो गया है ('प्रवृत्ते शस्त्र सम्पाते'—गीता : १।२०)। अर्जुन ने भी युद्ध के लिए अपने हाथों में धनुष उठा लिया। किन्तु अचानक उनके मन में दारुण भय और अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताएँ उपस्थित हो गयीं; उन्होंने अपने रथ के सारथी श्रीकृष्ण को युद्ध के दोष दिखाकर अनेक बातें बतायीं एवं धनुष-बाण छोड़कर दुःखी हृदय से वे रथ पर बैठ गये। श्रीकृष्ण ने सोचा कि अर्जुन की यह मानसिक दुर्बलता क्षणिक है, अर्जुन की भाँति वीर क्षत्रिय के लिए युद्ध का त्याग करना असंभव एवं अनुचित है। इसी से उन्होंने तिरस्कारपूर्वक अर्जुन को युद्ध करने का आदेश दिया। उन्होंने कहा,—'इस प्रकार की हीन कापुरुषता तुम्हारी तरह के वीर को शोभा नहीं देती। इस सामयिक दुर्बलता का त्यागकर वीरतापूर्वक युद्ध करो।" (गीता २।५)

गीता के द्वितीय अध्याय से लेकर अंतिम अध्याय तक अनेक श्लोकों में अर्जुन को दिये गये युद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष आदेश एवं अन्य प्रकार के निर्देश देखने को मिलते हैं। इन सब श्लोकों का एक साथ विवेचन करने पर गीता के मूल वक्तव्य को समझने में हमलोगों को सुविधा होगी। जिन श्लोकों में युद्ध करने का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आदेश है, उन्हीं श्लोकों का मैं यहाँ विवेचन करूँगा।

अर्जुन को भय हुआ था कि वे आत्मीय स्वजनों की हत्या कर राज्य प्राप्त करके सुखी नहीं हो सकेंगे, गुरुजनों की हत्या करने से पाप होगा एवं पाप के परिणामस्वरूप नरक का भोग करना होगा। इन सब

चिन्ताओं ने अर्जुन को विशेष व्याकुल कर दिया। शोकाकुल हृदय से रोते-रोते वे रथ पर बैठ गये। उनकी इसी मानसिक दुर्बलता को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने पहले कठोर वचनों के द्वारा उनकी भर्त्सना की। उन्होंने कहा,—छिः ! ऐसी कापुरुषता मत ग्रहण करो। तुम्हारे जैसे वीर के लिए ऐसी भीरुता शोभा नहीं देती; इस क्षुद्र मानसिक दुर्बलता को छोड़कर युद्ध आरंभ करो, 'क्लैब्यं मा स्म गमः ·····उत्तिष्ठ' (२।३)

तदुपरान्त अर्जुन के मन से मनुष्य के प्रकृत स्वरूप के विषय में अज्ञानता दूर करने के लिए श्रीकृष्ण ने उन्हें आत्मा के स्वरूप के विषय में बताने के बाद युद्ध करने का आदेश दिया। कहा—मनुष्य के स्थूल शरीर का अवलम्बन लेकर जो चेतन सत्ता 'मैं मैं' करती है, उस सत्ता का विनाश नहीं होता। वह एक अद्वितीय, असीम वस्तु है। मनुष्य का शरीर ही जन्म लेता और मरता है। इसलिए 'युद्धयस्व' युद्ध करो (२।१७, १८)। 'नानुशोचितुमर्हसि' सोच करना तुझे उचित नहीं है (२।२५-३०)।

अर्जुन क्षत्रिय हैं। युद्ध करना क्षत्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसीलिए श्रीकृष्ण उन्हें अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य करने को उत्साहित करते हैं। अर्जुन के वीरत्व की प्रशंसा है उन्होंने अनेक वीरों को युद्ध में पराजित किया है। इसी से उन्हें अपयश का श्रीकृष्ण ने भय दिखाया—"न विकम्पितुमर्हसि' तुम भयभीत होने योग्य नहीं हो (२।३१-३७)।

शरीर एक न एक दिन नष्ट होगा ही, किन्तु 'मैं' किसी भी प्रकार से रह जायगा, इस तरह का विश्वास नहीं रहने पर, कर्मयोग ही नहीं, बल्कि किसी भी प्रकार की साधना शुरू नहीं की जा सकती। इसी से अर्जुन का विषाद दूर करने के लिए श्रीभगवान् ने उन्हें आत्मतत्व का उपदेश दिया। किन्तु, साधारण मनुष्य इतनी तत्व कथा सुनना या समझना नहीं चाहता। वह जिस लाभ-हानि की संभावना सामने प्रत्यक्ष देखता है उसे ही सत्य मान लेता है और कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी से लौकिक दृष्टि का सहारा लेकर श्रीकृष्ण ने कहा—'युद्ध करते हुए यदि मर जाओ तो स्वर्ग जाओगे, यदि विजयी हुए तब राज्य सुख का भोग करोगे। युद्ध का फल जो कुछ भी क्यों न हो, लाभ छोड़कर तुम्हें कोई हानि नहीं होगी। अतएव, युद्ध के लिए संकल्प कर खड़े हो जाओ 'उत्तिष्ठ युद्धाय कृतनिश्चयः" (२।३७-३८)।

किसी की हत्या करना दूर की बात है, अर्जुन ने युद्ध आरंभ ही नहीं किया। फिर भी भविष्य में क्या हो सकता है उसका चिन्तन कर वे शोकातुर हो उठे हैं। इसी अशोभन दुर्बलता का परिहारकर, जिस मनोभाव से युद्ध करने पर शोक, संताप और भय की भावना नहीं आयगी, उस उपाय के अवलम्बन के उपदेश के साथ श्रीकृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का आदेश देते हैं। उन्होंने कहा,—स्वयं को कर्त्ता नहीं मानकर सभी जीवों के भीतर विराजमान ईश्वर की इच्छा से परिचालित होकर कार्य कर रहे हो, यही विश्वास करो, समस्त कर्मों एवं कर्मों के फलों को ईश्वर को समर्पण करो, स्वयं किसी कर्म के फल-भोग की कामना नहीं करो, किसी को 'मेरा' नहीं मानो एवं शोक का परित्याग कर युद्ध करो, 'युध्यस्व विगतज्वरः' सन्ताप रहित होकर युद्ध करो (३।३०)। यहाँ कर्म को साधना में परिणत करने के प्रधान उपाय का निर्देश किया गया है। (२।४७)

अर्जुन की कातरता देखकर श्रीकृष्ण ने उनकी भर्त्सनाकर उनसे कहा—'तुमने विज्ञ व्यक्ति की भाँति अनेक बातें कहीं, किन्तु ज्ञानी व्यक्ति जानते हैं कि शरीर ही नष्ट होता है, आत्मा का मरण नहीं होता। इसलिए वे किसी के लिए भी शोक नहीं करते'। उन्होंने फिर अर्जुन से कहा कि अर्जुन का शोक एवं भय अज्ञान से उत्पन्न है। आत्मा जन्मरहित है—यह तत्व अर्जुन को मालूम नहीं है। इसी से उन्होंने अर्जुन को विचारपूर्वक कर्मयोग का अवलम्बन लेकर युद्ध करने का आदेश दिया, 'योगमातिष्ठ उत्तिष्ठ' (४।४१)।

श्रीकृष्ण ने विचार के द्वारा अज्ञान का नाशकर कर्मयोग का अवलम्बन करने का उपदेश दिय। किन्तु

विचार के द्वारा मन को शान्त रखना बहुत कम लोगों के लिए सम्भव है। तुच्छ एवं अनित्य विषयों के प्रति मन का स्वाभाविक आकर्षण होता है; मलिन मन जो चाहता है, बुद्धि उसी को उपयोगी सिद्ध करती है। जब तक शरीर में 'मैं मेरा' का बोध प्रबल है तबतक सभी कर्मों का फल ईश्वर को समर्पण करने की, सभी कर्मों के साथ ईश्वर का स्मरण करने का अभ्यास करने की आवश्यकता है। इसी से श्रीकृष्ण ने बाद में अर्जुन को कहा, 'युद्ध करने के समय ईश्वर को स्मरण करना नहीं भूलो। उनकी इच्छा से प्रेरित होकर कर्म कर रहे हो एवं कर्म का फल उनका ही प्राप्य है, यह बात हर समय मन में रखना। मन के समस्त भाव एवं बुद्धि के सारे विचार ईश्वर को समर्पित कर पाने पर ईश्वर की प्राप्ति निश्चित है। 'मामनुस्मर युध्य च'— मेरा स्मरण कर और युद्ध कर। (८।७)

मनुष्य के साथ लड़ाई कर विजय प्राप्त करना एक सामयिक कार्य है। किन्तु मन-बुद्धि के साथ लड़ाई केवल जाग्रत अवस्था में ही नहीं, स्वप्न-दर्शन के समय भी होती रहती है। इसी से भगवान ने कहा,—'बीच-बीच में स्मरण करने से नहीं होगा; हर घड़ी स्मरण करना होगा। अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म करना, किन्तु कर्म करना होगा इस कारण से ईश्वर को स्मरण करना भूलना नहीं। 'मैं कर्त्ता हूँ' इस मनोभाव का त्याग कर कर्म करने में अभ्यस्त होने पर, कर्म का फल ईश्वर को समर्पित कर पाने पर, ईश्वर को सर्वदा स्मरण कर पाना सम्भव होगा (९/२७, ९/३४)।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विश्वरूप दिखाया। दिखाया कि समस्त जीव जगत् उनकी विराट् देह में अवस्थित हैं और कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो निश्चितरूप से घटेगा उसका दृश्य विशेषरूप से दिखलाया। यह दिखाकर उन्होंने कहा, दोनों पक्षों की सेनाओं में जो वीर योद्धागण युद्ध के लिए उपस्थित हैं उन सब का मरणकाल समुपस्थित है, तुम्हारे युद्ध नहीं करने पर भी वे अवश्य ही मरेंगे। मैंने उन सब की मृत्यु का विधान कर लिया है। तुम उन लोगों की मृत्यु के निमित्त मात्र बनो, युद्धजयी होकर यश लाभ करो एवं राज्य सुख का भोग करो, 'उत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्' (११/३२/३३)। उन्होंने और भी कहा, 'भीष्म, द्रोण आदि वीर को मैंने मार रखा है, उन शत्रुओं का वध कर तुम विजयी बनो, कातर नहीं होओ, 'जहि मा व्यथिष्टा, युध्यस्व जेतासि···(११/३४)।

युद्ध के लिए परोक्षभाव से आदेश देकर ही श्रीकृष्ण ने अपना उपदेश प्राय: समाप्त कर दिया है। यथा— समस्त कर्मों का फल यदि मुझे समर्पित कर अपने स्वभाव और सामर्थ्य के अनुसार कार्य करो, तो सारे दुःखों, विपत्तियों और भयों से तुम त्राण पाओगे और, यदि अहंकार के वशीभूत होकर सोचो कि 'मैं जिसे अच्छा समझता हूँ वही करूँगा,' तो तुम्हारा सर्वनाश होगा। यह जो अहंकार के वशीभूत होकर तुम कहते हो कि 'युद्ध नहीं करूँगा,' यह नहीं कर सकोगे। प्रकृत रूप से युद्ध करना या नहीं करना तुम्हारी इच्छा पर नहीं निर्भर करता। युद्ध की प्रवृत्ति तुम्हारे स्वभाव और संस्कार में है। वही संस्कार युद्ध करने के लिए तुम्हें बाध्य करेगा। आत्मीय स्वजनों के प्रति तुम्हारा जो मोह है, उससे तुम्हारा स्वभाव कहीं अधिक प्रबल है। इसलिए, अनिच्छा रहते हुए भी तुम युद्ध में प्रवृत्त होओगे। (१८।५७,५८,५९)।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करने के लिए अनेक प्रत्यक्ष और परोक्ष आदेश दिये। जिस मनोभाव से कर्म करने के फलस्वरूप शोक, संताप नहीं होंगे, पाप में लिप्त नहीं होना, होगा, वह उपाय विशेष रूप से समझाया। सभी उपदेश देने के बाद उन्होंने कहा; 'जो कहा उस पर विशेष रूप से विचार करने से तुम्हारा मंगल होगा, यही करो। 'यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३)

उत्तर में अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण, आपके उपदेश के फलस्वरूप मेरा भ्रम दूर हो गया है, जिस उद्देश्य से युद्धभूमि में उपस्थित हुआ हूँ उसका स्मरण हो आया है,

मेरा मन शान्त हो गया है, युद्ध करने के औचित्य के विषय में सन्देह दूर हो गया है, अब आपके आदेश के अनुसार ही कार्य करूँगा 'करिष्ये वचनं तव' (१८।७३)

इसके बाद अर्जुन ने युद्ध किया और विजय प्राप्त कर राज्य वापस कर लिया।

किसी शास्त्र-ग्रन्थ के प्रधान विवेचनीय विषय का निर्णय करने की एक प्राचीन विधि है। वह है—उपक्रम, उपसंहार, एवं अभ्यास की एकवाक्यता का निरूपण। अर्थात्, जिस विषय को लेकर ग्रंथ का आरम्भ होगा, उसी विषय के निर्णय से यदि वह समाप्त हो एवं ग्रंथ के मध्य में भी यदि वह विषय एकाधिक बार विवेचित हो, तो ऐसा होने पर समझना होगा कि यह विषय ही ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है।

इस रीति के अनुसार यदि हमलोग गीता को समझने की चेष्टा करें तो लगता है कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग की शिक्षा दी है। प्रचलित गीता के सात सौ श्लोकों में से ८४ श्लोकों में अर्जुन की उक्तियाँ हैं तथा ५७५ श्लोकों में श्रीकृष्ण ने विभिन्न दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया है। उनमें एक है—कर्मयोग। जिस कौशल के सहारे कार्य करने पर, मनस्ताप नहीं होगा—शोक, ताप एवं भय नहीं उपस्थित होंगे—वही कर्म करने का कौशल है। इस कौशल का पहला सूत्र है—मनुष्य अस्थि-मांस निर्मित जन्म-मरणशील देह मात्र नहीं, बल्कि जन्म-मृत्युरहित चेतन आत्मा है—इस तत्त्व में विश्वास। और दूसरा कौशल है—अहंकार का सर्वतोभावेन त्याग। किन्तु, 'मैं कर्त्ता हूँ,' 'मैं सुख की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति के लिए कार्य करूँगा'—इस प्रकार के मनोभाव का त्याग करना बड़ा कठिन है। केवल विचार एवं मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि हृदय की वृत्तियों के अनुशीलन द्वारा कर्तृत्व एवं फल का भोग करने की वासना का त्याग करना असम्भव कहा जाता है। इसी से जिस कौशल का अवलम्बन कर युद्ध करने से अर्जुन के पाप में लिप्त होने एवं नरक में जाने का भय दूर होगा वही कौशल श्रीकृष्ण ने उन्हे बताया। वह कौशल यह है कि जो ईश्वर अन्तर्यामी के रूप में सभी जीवों के हृदय में विराजमान हैं उनके द्वारा ही परिचालित होकर सारे कर्म करता हूँ—इस विश्वास के सहारे कर्म करना, एवं देह, इन्द्रियों तथा मन के द्वारा अनुष्ठित सारे कर्मों एवं कर्मफलों को उन्हें समर्पित करना। स्थान और समय की बात सोचकर देखने पर, भगवान ने अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने का उपदेश दिया था—ऐसा प्रतीत होता है। अर्जुन का अहंकार दूर करने के उद्देश्य से भगवान ने उन्हें अपने विश्वरूप का दर्शन कराया। अर्जुन के लिए ब्रह्म, अध्यात्म आदि जटिल दार्शनिक विषयक प्रश्न करना संभव प्रतीत नहीं होता।

"बेटा चिन्तित न होना। ये जागतिक बंधन क्षणभंगुर होते हैं। आज तो वे ही जीवन के सब कुछ और अंतिम लक्ष्य प्रतीत होते हैं, पर कल ही वे समाप्त हो जाते हैं। तुम्हारा वास्तविक बंधन तो भगवान् के साथ है।"

—श्री श्रीमाँ सारदा देवी

गीता में कर्मयोग : आधुनिक परिप्रेक्ष्य

—स्वामी सोमेश्वरानन्द
रामकृष्ण आश्रम, पटना

[वेदान्त केसरी के नवम्बर-दिसम्बर, १९८३ अंक में प्रकाशित स्वामी सोमेश्वरानन्दजी के प्रश्नोत्तर "कर्मयोग इन द गीता ए मॉडर्न पॅस्पेक्टिव" का भावानुवाद किया है कुमारी आरती श्रीवास्तव, एम. ए. ने—सं०]

यद्यपि गीता का तीसरा अध्याय 'कर्मयोग' कहलाता है लेकिन हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण ने कुछ अन्य अध्यायों यथा द्वितीय, पंचम, द्वादश और अष्टादश में भी इस विषय की चर्चा की है और इस चर्चा को जीवंत बनाने के लिए अर्जुन भी कुछ प्रतिप्रश्नों को रखते हैं।

कर्म का अर्थ है 'कार्य' और योग का तात्पर्य है 'तकनीक'। अतः गीता में श्रीकृष्ण बताते हैं कि कैसे और क्यों हमें कर्म करना चाहिए और उद्योगी होना चाहिए। इस परिचर्चा में रोचक तथ्य यह है कि वे केवल एक आस्थावान अर्थात् आस्तिक के दृष्टिकोण से ही नहीं, बल्कि तार्किक दृष्टिकोण से भी बोलते हैं और इस तरह वे एक सार्वभौम दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जो सबके लिए मान्य प्रतीत होता है।

कर्मयोग के संबंध में जैसी चर्चा उन्होंने की है, उस पूरे चित्र को यहाँ प्रस्तुत करना मेरे लिए कठिन है। फिर भी, मैं इस संदर्भ में कुछ विंदुओं पर प्रकाश डालने और इन्हें आधुनिक संदर्भ में परखने की कोशिश करूँगा। पश्चिम बंगाल के विभिन्न भागों में आयोजित हुए युवा-सम्मेलनों में भाग लेने के दौरान विज्ञान मनोविज्ञान, समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र तथा कुछ मार्क्सवादी विद्यार्थियों ने गीता में प्रतिपादित 'कर्मयोग' के स्वरूप पर प्रश्न उठाये जिनका मैंने सामना किया। प्रश्न बहुत रुचिकर थे और उत्तर आधुनिक परिप्रेक्ष्य के अनुरूप दिये जाते थे। इसलिए, यह लेख कमयोग के मुख्य विंदुओं को उजागर करते हुए, प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। और पाठक इससे आज की युवा-पीढ़ी के दृष्टिकोण के देख सकते हैं और समझ सकते हैं कि बदलते हुए परिवेश में शास्त्रों की व्याख्याओं से कैसे उन्हें संतुष्ट किया जा सकता है।

प्रश्न : गीता में कहा गया है कि एक निष्काम कर्मी को अपने कर्म के फल की आशा छोड़ देनी चाहिए। मैं एक क्रिकेट-खिलाड़ी हूँ और अपने महाविद्यालय की टीम का प्रतिनिधित्व करता हूँ। अतः क्या मैं विरोधी बल्लेबाजों को हराकर मैच जीतने का प्रयास नहीं करूँगा? अगर मैं एक अनिच्छित कर्मी हो जाऊँ और बिना कोई विकेट गिराने की कोशिश किये केवल अपने ओवर पूरा करूँ तो दूसरी बार मैं टीम से हटा दिया जाऊँगा गीता कैसे मुझे सहायता कर सकती है?

उत्तर : आप सोचते हैं कि गीता आपसे बिना किसी रुचि के कार्य करने को कहती है। क्या इसका मतलब यह है कि हमें यंत्र या रोबट की तरह कार्य करना चाहिए। निश्चिय ही नहीं। गीता में हम देखते हैं कि वास्तविक कर्मी 'धृत्युत्साह समन्वितः' (१८:२६) है अर्थात् धैर्य और उत्साह से युक्त है। अतः 'मा फलेषु कदाचन्' (2:४७) का क्या तात्पर्य है? इस विषय में आने के पहले हम कुछ अन्य बिन्दुओं को स्पष्ट कर लें।

अपने विद्यालय जीवन से हमें अच्छा बनने की सीख दी जाती रही। लेकिन मुझे क्यों अच्छा लड़का बनना चाहिए? क्यों नहीं मैं झूठ बोलूँगा, दूसरों को धो

दूँगा और हर किसी से भिड़ूँगा ? क्या इसलिए कि यदि मैं इस तरह की हरकत करता हूँ तो मुझे पुलिस पकड़ लेगी ? या, अगर मैं इस तरह की हरकत छोड़ दूँ तो लोग मेरी प्रशंसा करेंगे और मैं लोकप्रिय हो जाऊँगा ? अगर ऐसा है, तो इसका मतलब यह है कि मैं केवल दण्ड से बचने या पुरस्कार पाने के लिए अच्छा बनने की कोशिश कर रहा हूँ। इस प्रकार कार्य गौण हो जाता है जबकि दण्ड या पुरस्कार ही मूलभूत प्रेरक हेतु प्रतीत होता है।

इसी प्रकार, जब हम कर्म करते हैं और इस पुरस्कार और दण्ड की भावना को नहीं छोड़ते तो कर्म गौण हो जाएगा और तब हम इसे पूरी तत्परता के साथ करने योग्य नहीं होंगे। प्रत्येक क्रिया दो प्रकार के परिणाम उत्पन्न करती है :—(१) अंतिम लक्ष्य की पूर्त्ति और (२) पुरस्कार या दण्ड की उपलब्धि। जब गीता कहती है 'मा फलेषु' तो यहाँ फल का अर्थ दूसरे प्रकार का परिणाम है। और इसलिए श्रीकृष्ण हमें सफलता और विफलता द्वारा विचलित नहीं होने को कहते हैं। जब आप क्रिकेट-मैच खेलते हैं तो आप में मैच जीतने का धैर्य और उत्साह होना चाहिए। लेकिन अगर इसी समय आप एक सही कर्मी की तरह पेश आते हैं तो आपको हारने के बाद भी खिन्न नहीं होना होगा न ही मैच जीतने पर अत्यधिक गर्वित होना होगा !

प्रश्न : गीता को इस विंदु पर समझना मुझे कठिन प्रतीत होता है जबकि लौकिक-दर्शन एक अधिक अच्छा विचार देता है। यह हमें दूसरों की सहायता करने के लिए कहता है।

उत्तर : हमें दूसरों के लिए कार्य करना चाहिए। लेकिन हमें क्यों कार्य करना चाहिए ? लौकिक नैतिकता की मुख्य कठिनाई यह है कि यह गहराई में नहीं जाती 'दूसरों का भला करो' इस कथन का नैतिक सारांश यह है कि सबको मिलकर रहने के लिए मनुष्य को त्यागी होना चाहिए। अर्थात् उत्तम अवस्था में रहना ही लक्ष्य है। जैसे आपके पास एक रिवाल्वर है और मेरे पास भी दूसरा रिवाल्वर है, अतः हमलोग शांतिपूर्ण सह अस्तित्व पसंद करते हैं। लौकिक नैतिकता में निर्देशित जिस कारण से पशु अपने ही वर्ग के पशुओं पर आक्रमण नहीं करते, उसी का लौकिक नैतिकता में वस्तुतः अनुकरण किया जाता है जो मनुष्य को आत्म-संयमित होने का नुसखा प्रदान करता है। यदि सुख ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य हो तो जहाँ पकड़े जाने की कोई गुंजाइश नहीं है, वहाँ, क्यों न एक दूसरे को धोखा देकर अधिक सुखी हो जाय। इसके अतिरिक्त, सुख का माप दण्ड एक समान नहीं है। एक बच्चे का सुख और एक बूढ़े का, एक सिपाही का सुख और एक वैज्ञानिक का, एक स्त्री का सुख और एक पुरुष का—ये सभी भिन्न हैं। तब क्यों कोई दूसरे व्यक्ति के लिए अच्छा कार्य करे ? इस विंदु पर लौकिक नैतिकतावाद का उत्तर ठोस नहीं है।

अब, गीता कैसे समाधान करती है ? मानव जीवन का उद्देश्य मुक्ति है, मोक्ष है (३:१९) मनुष्य कर्म के बिना नहीं रह सकता (३:५)। अतः मनुष्य को सामाजिक क्रिया-कलापों के जरिये जीना है। हमारे सामाजिक कार्य की मूल प्रवृत्ति दूसरों की निःस्वार्थ सेवा - होनी चाहिए। हमें क्यों दूसरों की सेवा करनी चाहिए ? इसलिए कि दूसरों का भला करने का मतलब मेरी अपनी भलाई है। ज्यों ही मनुष्य परोपकारी होने का आदी होता है, त्यों ही उसके स्वार्थपरक विचारों का क्षय होने लगेगा और त्याग के द्वारा वह व्युत्पन्न होगा। उसका मनस् शुद्ध होगा और मनस् के इस शुद्धिकरण का अंतिम परिणाम आत्म-अनुभूति या मुक्ति है। विद्यासागर गरीबों की आर्थिक मदद करके भी उनकी सभी समस्याओं का हल नहीं कर सके; माइकल मधुसूदन दत्त जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी पीने और कर्ज लेने की आदत कठिनता से त्याग सके यद्यपि विद्यासागर ने बहुत बार उनकी मदद की थी। लेकिन विद्यासागर स्वयं दयासागर में परिवर्तित हो गये। अतः दूसरों की सहायता कर मनुष्य स्वयं ऊपर उठता है और अपने को मूलभूत प्रवृत्तियों तथा मनोवेगों से मुक्त कराता है।

प्रश्न : क्षमा करें। मैं मार्क्सवादी हूँ और ईश्वर

शास्त्र में मेरी रुचि नहीं है। गीता कहती है कि मुक्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। लेकिन क्या आप इसकी व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से कर सकते हैं ?

उत्तर : अच्छा, सभ्यता का अभिप्राय क्या है ? चैतन्य का जड़ पर क्रमशः प्रभुत्व ही सभ्यता या विकास का तात्पर्य है। है या नहीं ? मुझे व्याख्या करने दें। मैं आशा करता हूँ कि आप डार्विन के विकासवादी सिद्धांत से सहमत हैं। अच्छा हम उस सिद्धांत से शुरू करें। चेतना का प्रथम चिह्न—जैसा आप कहते हैं—अमीबा में स्पष्ट हुआ था। इस एककोशीय प्राणी को शरीर था किंतु अङ्ग नहीं थे। इससे भोजन इकट्ठा करने, गतिशील होने तथा अस्तित्व के लिए संघर्ष करना पड़ा। पदार्थ अर्थात् बाह्य प्रकृति के विरुद्ध इसका संघर्ष जारी था। निर्जीव प्रकृति पर विजयी होने के लिए इसने हर क्षण का उपयोग किया। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप एक नयी जाति विकसित हुई। यह नया प्राणी प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष में उस अमीबा से अधिक बलशाली था। इसने भी प्रकृति के ऊपर प्रबल होने के लिए, जड़ पर आधिपत्य रखने के लिए संघर्ष जारी रखा और इस तरह पुनः एक नयी जाति विकसित हुई। प्रत्येक जाति का विकास, चेतना का जड़ पर प्रभुत्व, इसी संघर्ष के द्वारा हुआ। और इस प्रयत्न में शक्ति लगाने में विभिन्न अंग आकार लेने लगे। पहले जिर्राफ की गर्दन छोटी थी; लेकिन जब इसने लम्बे पेड़ों तक पहुँचने का, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का, प्रयास जारी रखा तो इसकी गर्दन क्रमशः लंबी होती गयी। अतः हम देखते हैं कि जड़ पर चैतन्य के क्रमशः आधिपत्य से विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति हुई। आदि मानव ने आग का आविष्कार किया, पेड़ की डालों से झोपड़ियों का निर्माण किया, पत्तों से वस्त्र बनाया। यहाँ उसका उद्देश्य था अंधकार, शीत, गर्मी, वर्षा आदि पर विजय प्राप्त करना, प्रकृति से संघर्ष करना। प्रकृति पर विजय के साथ मनुष्य की सभ्यता भी बढ़ती गयी। मनुष्य महान हो गया: धरती और आकाश के रहस्यों को जानने की उसकी उत्कंठा, मत्यु और जीवन के उद्देश्यों के सम्बन्ध में उसके शाश्वत प्रश्न अधिक आवश्यक हो गये। इस तरह संस्कृति का विकास हुआ, साहित्य, कला, चित्रकला, दर्शन, धर्म, विज्ञान हर चीज का विकास हुआ। इन सब में एक सामान्य लक्षण प्रधान है—ससीम मनुष्य असीम होने की आकांक्षा करता है, वह अपनी इन्द्रियों की सीमा का अतिक्रमण करने की चेष्टा करता है।

अब, क्या हम केवल बाह्य प्रकृति को नियंत्रित करते हैं ? मान लें कि आप भीड़ से भरी हुई बस में चढ़ने जा रहे हैं। संयोग से बस के फाटक पर आप श्री राम से टकरा जाते हैं और इसके लिए क्षमा माँगते हैं। लेकिन वे इससे खुश नहीं होते और आपसे रुखाई से पेश आते हैं। अब मान लें आप बस के अंदर जाते हैं और वहाँ भी अचानक श्री दत्ता से टकरा जाते हैं और पुनः आप क्षमा माँगते हैं। श्री दत्ता मुस्कुराते हैं और आपके लिए जगह बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। अब, यद्यपि श्री राय और श्री दत्ता दोनों ही समान उम्र के हैं, समान शैक्षणिक योग्यता के हैं, तथा एक ही ऑफिस में समान पद पर हैं फिर भी आप मि० दत्ता को भद्र कहेंगे। क्यों ? कारण कि हम किसी को अधिक सुसंस्कृत, अधिक सुशिक्षित और अधिक सहज व्यक्ति तब कहते हैं जब वह अपनी अभिवृत्तियों और सहज प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखता है। क्या ऐसा नहीं है ? इसलिए श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "जो व्यक्ति मन द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित रखता है और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों को कर्म के मार्ग में लगाता है, वह अधिक उत्कृष्ट है। (३:७)

इस तरह हमने देखा कि विकास और सभ्यता का तात्पर्य चैतन्य का जड़ पर क्रमशः प्रभुत्व है। तब मनुष्य का चरम लक्ष्य क्या है ? निःसंदेह चैतन्य का जड़ प्रकृति—बाहर और भीतर दोनों—पर पूर्ण शासन जैसा कि स्वामीजी ने भी कहा था धर्म-ग्रंथों में इसी को मुक्ति या मोक्ष कहा गया है। और धर्म मनुष्य को इस लक्ष्य की ओर अभिमुख करता है, इस सार्वभौम लक्ष्य के प्रति जागरूक बनता है।

प्रश्न : गीता कहती है, कि इच्छा महान शत्रु है। (३:३७) किन्तु, क्या बिना इच्छा के इस संसार में रहना संभव है ?

उत्तर : इच्छा का अर्थ है सुख की आकांक्षा। सुख पाने के लिए मनुष्य बहुत सारी चीजों के पीछे दौड़ता है। किन्तु क्या सुख कोई यथार्थ वस्तु है जो किसी चीज में उपलब्ध है ? बंगाली रसगुल्ला में आनन्द पाते हैं, लेकिन मैंने कुछ ऐसे गैरबंगालियों को भी देखा है जिन्हें इसमें कोई स्वाद ही नहीं मिला। कोई भी, चाहे वह इसे पसंद करता हो या नहीं, यह स्वीकार करेगा कि रसगुल्ला मीठा है और लाल मिरचा तीता। अब मिठास रसगुल्ला में है, तीतापन मिरचा में है और खट्टापन अँचार में है। क्या सुख किसी चीज में समान रूप से वर्तमान है ? बिल्कुल नहीं। लेकिन हर कोई समझता है कि सुख किसी वस्तु में है, किसी के शरीर में वर्तमान है, जबकि वास्तविकता यह नहीं है। सुख का वस्तुगत अस्तित्व एक धारणा है, एक कल्पना है। वास्तविकता यह है कि यह एक आत्मगत या व्यक्तिगत अनुभूति है। मनुष्य किसी वस्तुविशेष की इच्छा इसलिए करता है कि वह सोचता है कि सुख उस वस्तु में है। इस इच्छा के कारण वह उस धारणा, उस कल्पना की ओर दौड़ता है। और अंततः वह पाता है कि सुख उस वस्तु विशेष में नहीं है। तब वह उस वस्तु को परिवर्त्तित करता है और फिर सुख की तलाश में दौड़ता है। जब वह एक बच्चा था तब उसने लालीपॉप में सुख पाना चाहा; जब वह थोड़ा बड़ा हुआ तो गेंद खेलने या पतंग उड़ाने में सुख की कामना करने लगा; कुछ और वर्षों के बाद उसने सिनेमा देखने में सुख की तलाश की, तब राजनीति में, फिर पारिवारिक जीवन, दर्शन आदि-आदि में। उसने जिसे आनन्ददायक समझा वह और कुछ भी नहीं था बल्कि उसकी अपनी कल्पना, अपनी व्यक्तिगत भावना ही थी जो उसे एकसे दूसरी वस्तु की ओर ढकेलती रही। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुख कोई वस्तुगत चीज नहीं है बल्कि यह एक भावना, एक व्यक्तिगत भावना है। इस तरह सुख की आकांक्षा हमारे लिए शत्रु हो जाती है, क्योंकि हम इसके वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ रहते हैं। जीवन भर सुख की इस कल्पना या धारणा के पीछे दौड़ने के बाद जब हम सुख किसी वस्तु में नहीं पाते, तब हम निराश हो जाते हैं और इस प्रकार इच्छा हमारी शत्रु हो जाती है। इसी के कारण बहुत सारे राजाओं ने देश पर देशों को जीता, कृपणों ने धन का अम्बार लगा लिया, और फिर भी वे खुश नहीं थे। सुख की आकांक्षा ने उन्हें विनष्ट कर डाला।

आपने पूछा कि इच्छा के बिना रहना संभव है या नहीं ? गीता कहती है, "इन्द्रिय के लिए, (उस) इन्द्रिय के विषय में राग द्वेष स्वाभाविक हैं। मनुष्य को इन दोनों के काबू में नहीं आना चाहिए क्योंकि वे उनके शत्रु हैं।" (३:३४) यह क्यों शत्रु है ? क्योंकि यह हमारी दृष्टि को धूमिल कर देती है और प्रतीति को सत्य स्वीकारने के लिए हमें विवश कर देती है। इस तरह इच्छा ही सारे दुःखों की जड़ है जो हमें मूर्ख बनाती है।

प्रश्न : ऐसा लगता है कि गीता केवल वैयक्तिक मुक्ति या स्वतंत्रता पर ही जोर देती है ! क्या यह इस तरह से मनुष्य को स्वार्थी नहीं बनाती ?

उत्तर : ऐसा नहीं है। कर्मयोग के ही अध्याय में हम देखते हैं कि गीता हमें यज्ञ करने को कहती है —यज्ञार्थात्कर्मणो—त्याग की भावना से कर्म करो। यज्ञ के पांच सोपान हैं—(१) पितृ-यज्ञ—माता-पिता की सहायता करना, (२) ब्रह्म-यज्ञ—अर्थात् पढ़ना और पढ़ाना, (३) नृ-यज्ञ—अर्थात् जनसमुदाय को ऊपर उठाने के लिए कर्म करना; (४) भूतयज्ञ अर्थात् पशुओं-पक्षियों की देखभाल और (५) देवयज्ञ अर्थात् जप और ध्यान। यज्ञ के पाँच सोपानों की यह धारणा अनोखी है और उन्नत करने वाली भी। गीता स्वयं की मुक्ति के साथ जनसमूह की मुक्ति के लिए भी कार्य करने को कहती है। स्वामी विवेकानन्द ने आधुनिक विश्व में 'आत्मनो-मोक्षार्थम् जगत्-हिताय च' के रूप में इसी बिन्दु पर जोर दिया।

कुछ शाश्वत प्रश्न

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

गीता के अनुसार आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी ये चार प्रकार के लोग भगवान को भजते हैं। इनमें से कोई भी बुरा नहीं है। लेकिन दुःखनिवृति एवं कामना-पूर्ति की आवश्यकता का अनुभव जब तक व्यक्ति करता है, तब तक भगवान का भजन करने पर भी वास्तविक, आध्यात्मिक जीवन का प्रारंभ नहीं होता। अधिकांश लोग विषय-भोग, अर्थ एवं काम की पूर्ति में ही सन्तुष्ट रहते हैं, लेकिन कुछ लोग इनसे संतुष्ट नहीं होते। वे इनसे उब कर प्रश्न करते हैं—क्या विषय भोग ही जीवन के सर्वस्व है? आखिर सत्य क्या है? क्या ईश्वर है? इत्यादि। ये हैं जिज्ञासु, और जिज्ञासा से वास्तविक अध्यात्मिक जीवन का प्रारम्भ होता है। उपनिषदों का प्रारम्भ इन्हीं शाश्वत प्रश्नों से होता है, उनका अन्त इन्हीं के उत्तर द्वारा होता है।

सबसे पहले कठोपनिषद् में बालक नचिकेता द्वारा यमराज से पूछे गये प्रश्न को ही लें।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये—
ऽस्तीत्येके नायमस्तीतित्चैके।

"कुछ लोग कहते हैं कि मरने के बाद मानव रहता है, जबकि अन्य लोग कहते हैं कि वह नही रहता। सत्य क्या है? मरने के बाद क्या होता है? मैं यहीं जानना चाहता हूँ। यह प्रश्न अनादि काल से पूछा गया है, तथा अनन्त काल तक पूछा जायेगा। शाश्वत अमरत्व, चिर जीवन की चाह मानव को यह प्रश्न पूछने के लिए बाध्य करती है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि यदि अमरत्व ही उद्देश्य हो तो उसके लिए विभिन्न उपायों से,—अमृत, देवताओं से वरदान आदि से उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए", "मरने के बाद क्या होता है" इसे जानने से क्या लाभ? यह शंका, वस्तुतः ज्ञान के महत्व को हृदयंगम न कर पाने के कारण होती है। इस प्रश्न में निहित संकेत मानव के वास्तविक स्वरूप की ओर है। यदि देह को ही मानव का स्वरूप मानें, तो वह तो नश्वर है ही। लेकिन मानव यदि वस्तुतः चैतन्य आत्मा हो तो 'वह मरता है' यह कहना ही गलत होगा, और स्वयं के चैतन्य आत्म स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मानव अपने आप अमर हो जायेगा।

मुण्डकोपनिषद् का प्रारम्भ शौनक नामक मुनि के अङ्गिरा नामक ऋषि से पूछे गये प्रश्न से होता है:—

कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

"किसे जानने से सब कुछ जाना जा सकता है?,, कैसा सुन्दर प्रश्न है यह! मानव की चिरन्तन ज्ञान पिपासा का प्रतीक! यह मानना नितान्त भूल होगी कि सुख प्राप्ति ही सभी मानवों के जीवन का उद्देश्य है। जिस प्रकार परमानन्द-प्राप्ति मानव की स्वाभाविक कामना है, उसी प्रकार सर्वज्ञ होना, चरम ज्ञान प्राप्त करना भी मानव की शाश्वत पिपासा, भूख है। स्वयं तथा विश्व ब्रह्माण्ड के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में प्रेरित होने पर मानव अपनी अल्पज्ञता का अनुभव करता है। कितना लघु है मानव का जीवन, और कितने सीमित हैं उसके ज्ञानार्जन के यंत्र—मन और इन्द्रियाँ। यदि वह जन्म जन्मान्तर तक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन करता रहे तो भी विश्व का ज्ञान भंडार समाप्त नहीं होगा। अतः वह प्रश्न करता है कि जिस प्रकार पकते चावलों में से एक को परखने से यह पता चल जाता है कि सभी पके हैं या नहीं,

उसी प्रकार क्या कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, जिसे प्राप्त कर सभी को जाना जा सके ? यह प्रश्न इसी शाश्वत प्रेरणा का प्रतीक है।

इस सन्दर्भ में नारद सनत्कुमार वार्तालाप भी स्मरणीय है।

नारद ने वेद, पुराण, देव विद्या, भूत विद्या, नक्षत्र विद्या आदि पढ़ लिये थे, किन्तु वे फिर भी रोगग्रस्त थे। वे स्वयं कहते हैं कि मैं वेद विद् तो हूँ लेकिन आत्मविद् नहीं हूँ। आप मुझे वह शिक्षा दें जिससे मैं आत्मविद् हो सकूँ क्योंकि आत्मविद् ही शोक सागर से तर पाते हैं। इस तथा पूर्ववर्ती प्रश्न में मानव मन की नानात्व के पीछे वर्त्तमान एकत्व की खोज का संकेत है।

प्रश्नोपनिषद् का तो नाम ही उसमें पूछे गये ५ प्रश्नों के कारण पड़ा है। पाँच सद्गृहस्थ ऋषि पिप्पलाद के पास जाकर उनसे एक-एक प्रश्न करते हैं। इन सभी की सामान्य इच्छा परंब्रह्म को जानने की थी लेकिन ये सीधे ब्रह्म विषयक प्रश्न करने के बदले प्रजा की उत्पत्ति कैसे हुई, प्रजा का परिपालन करने वाले देवता कौन हैं तथा उनमें कौन श्रेष्ठ है, प्राण कैसे पैदा होता है, शरीर में प्रवेश कैसे करता है, कौन शरीर में सोता है, जागता है तथा स्वप्न देखता है तथा ओंकार का ध्यान करते हुए मृत्यु होने पर क्या फल होता है, पूछते हैं। प्रकारान्तर से ये सारे प्रश्न परम तत्व विषयक हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का भी प्रारंभ प्रश्न से ही होता है। कुछ ब्रह्मविद् ऋषि—परस्पर चर्चा करते हैं, मानवों के नियंता के विषय में:—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन च सम्प्रतिष्ठाः।
अधिष्ठाताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्याख्यास्याम्॥

अर्थात् क्या परब्रह्म हमारी उत्पति का कारण है ? हमारा जन्म कहाँ से हुआ ? हम किसके द्वारा जीवित हैं, तथा किसमें हमारी प्रतिष्ठा है ? किसके द्वारा परिचालित हो हम सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।

केन अर्थात् किसके द्वारा इस प्रश्नवाचक शब्द के द्वारा प्रारम्भ होने के कारण इस उपनिषद् का नाम ही केनोपनिषद् पड़ गया है।

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रक ऊदेवो युनक्ति॥

किसके द्वारा परिचालित हो मन अपने विषयों की ओर धावित होता है ? किसने सर्वप्रथम प्राण को कार्य में नियुक्त किया है ? किसके द्वारा प्रेरित हो वाणी बोलती है ? वह कौन देवता है जो चक्षु एवं कर्ण को अपने कार्य में लगाते हैं ?

देह प्राण इन्द्रियों से तो हम सभी परिचित हैं। सामान्यतः हम सभी अपने इन विभिन्न अंग-प्रत्यंगों, व्यक्तित्व के इन विभिन्न भागों की सत्ता को बिना सोचे-विचारे ही स्वीकार कर लेते हैं। लेकिन मानव की ज्ञान-पिपासा उसे इनके स्वरूप तथा इनका संचालन करने वाली दैवी शक्ति को जानने के लिए प्रेरित करती है। पूर्वोक्त इन विभिन्न प्रश्नों में मानव जगत् के कारण की खोज करना चाहता है।

इन औपनिषदिक प्रश्नों के साथ यदि भगवान बुद्ध एवं स्वामी विवेकानन्द के प्रश्नों को जोड़ दें तो शाश्वत प्रश्नों की एक अच्छी खासी सूची तैयार हो जायेगी। अत्यन्त आग्रह के साथ स्वामी विवेकानन्द ने श्रीरामकृष्ण से पूछा था—"महाशय क्या आपने ईश्वर को देखा है ?" यह एक छिछली जिज्ञासा ही नहीं है, बल्कि यह प्रश्न समस्त आधुनिक संशय वादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। क्या इन्द्रियगोचर जगत् के पीछे कोई अतीन्द्रिय नित्य सत्ता है, तथा क्या उसका साक्षात्कार किया जा सकता है ? क्या जीवन का लक्ष्य विषय भोग ही है, तथा उसकी परिसमाप्ति मृत्यु में ही घटती है,

अथवा क्या ईश्वर दर्शन द्वारा अमरत्व की प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है ? ये सभी विचार इस छोटे से प्रश्न के पीछे छिपे हुए थे। यही कारण है कि श्री रामकृष्ण ने इसका उत्तर संक्षिप्त 'हाँ' में न देकर विस्तार से दिया।

भगवान बुद्ध का स्वयं से किया गया प्रश्न तो सर्वविदित है । रोग, जरा व मृत्यु को देखकर तो सर्वप्रथम उन्होंने अपने सारथी से उनके बारे में प्रश्न किया। लेकिन उसके इस उत्तर से कि ये सभी के लिए अपरिहार्य हैं, सभी को रोग जरा एवं मृत्यु का सामना करना होगा, वे संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने इन तीनों को दुःख की संज्ञा दी, और दुःख के कारण की खोज के लिए गृह-त्याग कर निकल पड़े।

उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर पुस्तकों में शास्त्रों एवं महापुरुषों के उपदेशों में आज आसानी से पाये जा सकते हैं। फिर भी ये प्रश्न शाश्वत हैं। कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को इन प्रश्नों का उत्तर स्वयं खोजना पड़ता है। यह नियम पूर्व काल में भी था, आज भी है और भविष्य में भी रहेगा। दुःख का कारण तृष्णा है, ईश्वर का दर्शन किया जा सकता है। देह की मृत्यु होने पर भी आत्मा अमर रहती है, इत्यादि उत्तरों को बौद्धिक रूप से जानने से ही दुःख से निवृत्ति नहीं हो जाती है, न ही भगवद्दर्शन अथवा आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर जब तक हमारे भीतर से नहीं आता, जब तक हम उत्तरों के साथ एकाकार नहीं हो जाते तब तक प्रश्न, प्रश्न ही बने रहते हैं। इनके समाधान की प्राप्ति की प्रक्रिया ही ज्ञान योग कहलाती है।

अवश्य पढ़िए ! अवश्य पढ़िए !!

श्रीरामकृष्ण के तीन रुप

लेखक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

प्रस्तुत पुस्तक रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी में कार्यरत प्रबुद्ध संन्यासी स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज के श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवनादर्श एवं जीवनदायी संदेशों से सम्बन्धित १६ विचारपूर्ण एवं विवेचनात्मक मौलिक निबंधों का विलक्षण संकलन है। हिन्दी में लिखी गयी यह एक अनूठी पुस्तक है। श्रीरामकृष्ण के अनुरागी भक्तों एवं सामान्य पाठकों के लिए यह एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है।

सुन्दर कागज ! साफ छपाई ! मनोरम कवर ! पृष्ठ १४३ ! मूल्य : १५ रुपये मात्र।

प्रकाशक

श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम
रासकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश ननर
छपरा—८४१ ३०१ (बिहार)

गीता में विश्व धर्म

कुमारी आरती श्रीवास्तव
छपरा

[कुमारी आरती श्रीवास्तव ने गीता का विशेष अध्ययन किया है एवं गीता पर ही अपना शोधप्रबंध पी-एच० डी० की उपाधि के लिए विश्वविद्यालय में अर्पित किया है—सं०]

धर्म का शाश्वत उद्देश्य मानव की अपनी मानसिक वृत्तियों तथा मानव स्वभाव के बीच मेल स्थापित करना रहा है, जिसके आधार पर मानव अपने स्वाभाविक धर्म का पालन करते हुए अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सके। किंतु फ्रायड के अनुसार प्रेम-घृणा, बनाना-बिगाड़ना, संघटन-विघटन एक ही सत्ता के दो अवियोज्य पक्ष हैं। यदि एक धर्म के द्वारा उसके अनुयायियों में बंधुत्त्व होता है तो इसी धर्म के द्वारा अन्य धर्म के अनुयायियों के प्रति हिंसा और विरोध-भाव का रहना भी स्वाभाविक है। अतः धर्म के नाम पर उतनी ही अधिक हिंसा भी हुई है, जितना इसके द्वारा सौहार्द्र को अपनाया गया है। यही कारण है कि ईश्वरीय प्रेम पर आधारित ईसाई धर्म में भी अन्य धर्मों के प्रति विरोध देखा जाता है।

हिन्दुत्त्व की आध्यात्मिक चमक, यहूदीत्त्व की श्रद्धापूर्ण आज्ञाकारिता, बौद्धधर्म की विशाल करुणा, ईसाई धर्म के ईश्वरीय प्रेम का पाठ तथा इस्लाम का अल्लाह के प्रति आत्मसमर्पण आदि विभिन्न परंपराएँ हैं जो एक ही सत्ता की विभिन्न छवियाँ हैं और इन दृष्टियों के मेलजोल तथा पारस्परिक आदान-प्रदान से मानव जाति पूर्णत्त्व को प्राप्त कर सकती है। परंतु प्रश्न है कि क्या इन विभिन्न धार्मिक दृष्टियों का सामंजस्य हो सकता है? फिर यदि इन विभिन्न दृष्टियों को हटा दिया जाय तो क्या कोई धर्म संरक्षित रह पायेगा? यदि ईसाई धर्म से ईसा की जीवनी, शिक्षा तथा मृत्यु को हटा दिया जाय तो फिर ईसाई धर्म में बचता ही क्या है? यदि इस्लाम से अल्लाह का विचार, पैगम्बर मुहम्मद साहब, कुरान इत्यादि को हटा दिया जाय तो इस्लाम में शेष क्या रह जाता है? अतः यदि विभिन्न धार्मिक दृष्टियाँ सही मान ली जायें तो इनका तर्कसंगत समाहार नहीं हो सकता और यदि इनकी विभिन्नता को गौण तथा आकस्मिक कहकर ठुकरा दिया जाय तो सभी परंपरागत धर्मों का विलयन हो जाता है।

भारतीय परंपरा के अनुसार चूँकि व्यक्तियों के कर्म-संस्कार विभिन्न होते हैं इसलिए व्यक्ति भी एक दूसरे से भिन्न होंगे और तदनुसार उपास्य और उपासना पद्धति भिन्न होगी। जो देवता या प्रतीक किसी एक प्रकार के संस्कार अथवा वर्ग के लिए सच्चा होता है, वह संभवतः अन्य व्यक्तियों के लिए वैसा नहीं भी हो सकता है। प्रत्येक का वही देवी-देवता सच्चा है जो उसके हृदय का स्पर्श करता है तथा उसे अनुप्राणित करने में समर्थ होता है। उपास्य-उपासक, भक्त-भगवान सापेक्ष हुआ करते हैं। जैसा हमारा व्यक्तित्त्व होगा वैसा ही हमारा उपास्य होगा क्योंकि उपास्य में उपासक के व्यक्तित्त्व का पूर्ण प्रकाशन होता है। अतः जितने प्रकार के व्यक्ति होंगे उतने ही प्रकार के देवी-देवता भी होंगे और चूँकि व्यक्ति अनेक प्रकार के हैं इसलिए धर्मों की अनेकता और सापेक्षता निरपेक्षतया सत्य मानी जाएगी।

अब यदि धर्म अनेक हों और यदि किसी की एक ही धर्म के प्रति निष्ठा रहे तथा अन्य सभी धर्मों के प्रति अश्रद्धा, तो धर्मों के बीच अंतर्गोष्ठी कैसे होगी, उनके बीच एकता कैसे स्थापित की जाएगी? विभिन्न धर्मों

के बीच कुछ सामान्य तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए जिनके आधार पर धर्म समन्वय हो सके अथवा विभिन्न धर्मों के बीच वार्तालाप स्थापित किया जा सके। साधारणतः इस तत्त्व को निर्गुण, निराकार तथा अनिर्वचनीय इत्यादि नामों से पुकारा गया है। भगवद्गीता विभिन्न धर्मों के बीच समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। दसवें अध्याय में बताया गया है कि जहाँ कहीं भी मानवसृष्टि को उन्नत बनाने वाली और पावन करनेवाली अतिशय पवित्रता और असाधारण शक्ति दिखायी दे वह ईश्वर के अंश से ही उत्पन्न हुआ है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥

(गीता, 1041)

गीता में प्रतिपादित धर्म न केवल हिन्दू धर्म का बल्कि जिसे धर्म कहा जाता है उस सबका, उसकी उस विश्वजनीनता के साथ प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें काल और देश की कोई सीमा नहीं है। इसके समन्वय में मानवीय आत्मा का, असभ्य लोगों की अपरिष्कृत जड़पूजा से लेकर संतों की सृजनात्मक उक्तियों तक, समस्त सप्तक समाया हुआ है। जीवन के अर्थ और मूल्य के संबंध में गीता द्वारा प्रस्तुत किये गये सुझाव, शाश्वत जीवन के मूल्यों की भावना और वह रीति जिसके द्वारा परम रहस्यों को तर्क के प्रकाश द्वारा आलोकित कर दिया गया है, और नैतिक अन्तर्दृष्टि मन और आत्मा के उस मतैक्य के लिए आधार प्रस्तुत कर देते हैं, जो इस संसार को एक बनाये रखने के लिए आवश्यक है।

निर्गुण निराकार तत्त्व वह परदा है जिसपर धार्मिक विश्वास के प्रतीक आरोपित किये जाते हैं। बिना प्रतीकों के धर्म नहीं हो सकता। इसलिए यह रंगहीन, निर्गुण परदा सामान्यता प्रदान करता है जिसके आधार पर धर्मों के बीच एकता स्थापित हो सके। पुनः प्रत्येक व्यक्ति का धर्म उसकी निष्ठा पर निर्भर करता है और गीता के अनुसार यह निष्ठा प्रत्येक व्यक्ति के संस्कार, संस्कृति तथा उसकी मानसिक बनावट एवं रचना पर निर्भर करती है। गीता इसे स्वधर्म कहती है 'स्वधर्म' का मतलब किसी संप्रदाय विशेष से नहीं है। इसका तात्पर्य, हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम आदि धर्म से नहीं है बल्कि, संपूर्ण मानवता से है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक अलग और विशेष धर्म होता है और यह धर्म उसके संस्कारों पर, उसकी जन्मजात अभिरुचियों पर निर्भर करता है। अतः अपनी जन्मजात अभिरुचियों और मानसिक रुझान के माध्यम से मन को ईश्वर की ओर मोड़ने का अभिक्रम करना स्वधर्म कहलाता है। स्वधर्म के अवलंबन से मनुष्य की प्रगति अपेक्षाकृत शीघ्र होती है क्योंकि स्वधर्म सहज होता है, हमारी प्रकृति के अनुकूल होता है और परधर्म आकर्षक दीखने पर भी गरिष्ठ होता है। दूसरे का धर्म ऊपर से कितना भी आकर्षक क्यों न हो, पर जो हमारा स्वभाव प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म है उसे छोड़कर दूसरे के धर्म को स्वीकार करने से अंततोगत्वा बड़ी हानि होती है। इसलिए गीता कहती है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥(3।35)

—अर्थात् अच्छी तरह अनुष्ठित दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म उत्तम है, अपने धर्म में मरना भी कल्याण-कारक है; दूसरे का धर्म भय को देनेवाला है। स्वधर्म में यदि कोई दोष भी दीखे तो उस दोष का मार्जन करते हुए उसका अनुष्ठान करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई कर्म नहीं है जो पूरी तरह निर्दोष हो।

गीता का अभिप्राय सभी धर्मों को विनष्ट कर किसी एक धर्म की स्थापना करना नहीं है बल्कि, भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रति समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखते हुए मानव को उसके स्वधर्म में प्रतिष्ठित करना है। इसलिए गीता विश्व-मानव का आह्वान करते हुए कहती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततः ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता 18-45-46)

—अर्थात् अपने-अपने कर्मों में लगे रहकर मनुष्य सिद्धि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। अपने कर्म में निरत रहकर वह सिद्धि किस प्रकार प्रकार पाता है? जिस ईश्वर से समस्त चराचर जगत की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सारा विश्व व्याप्त है, उसकी अपने धर्मों के द्वारा पूजा करते हुए मनुष्य सिद्धि को पा लेता है। इस प्रकार गीता उस संसिद्धि की प्राप्ति के लिए सभी का आह्वान करती है। उसकी दृष्टि में जीवन के परम प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए पुरुष या स्त्री का भेद नहीं है, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का ही भेद है, न देश का और न धर्म का ही कोई विभेद है। अतः धर्मों का सम्मिश्रण नहीं, बल्कि उनकी सहभागिता ही वांछनीय होगी। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो, जो उस अनंत ईश्वर के समान ही अनंत हो जिस ईश्वर के संबंध में वह उपदेश देता हैं; जिसकी ज्योति कृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों, संतों और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाईयों का हो और न मुसलमानों का। वरन् इन सभी धर्मों का समष्टिस्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनंत पथ खुला रहे, जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे। चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उठा हुआ, अति नीच, बर्बर, जंगली ही क्यों न हो, अथवा अपने मस्तिस्क रौर हृदय के सद्गुणों के कारण मानव समाज से इतना ऊंचा क्यों न उठ गया हो कि लोग उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हुए देवता के समान उसकी पूजा करें। वह विश्वधर्म ऐसा होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी। वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय स्वरूप को स्वीकार करेगा और उसका संपूर्ण बल मनुष्य मात्र को अपनी सच्ची या वास्तविक प्रकृति का साक्षात्कार करने के लिए सहायता देने में ही केंद्रित रहेगा। ऐसा करने पर एक दूसरे की निष्ठा के कारण अच्छाई में आगे बढ़ जाने अथवा जीवन को मूल्यवान को बनाने के लिए स्पर्धा का भाव बढ़ेगा जिसके कारण प्रत्येक मनुष्य अपनी धार्मिक अनुभूति को परिपूर्ण कर पायेगा।

□

"सदैव सत् और असत् का ही विचार करो; आत्मा को प्रत्यक्ष करने के निमित्त प्राणपण से यत्न करो। आत्म ज्ञान से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है और जो कुछ है वह सभी माया है—जादू है। एक प्रत्यगात्मा ही अबाधित सत्य है। एक प्रत्यगात्मा ही अबाधित सत्य है। इस बात की यथार्थता मैं ठीक ठीक समझ गया हूं, इसीलिए तुम सब को समझाने की चेष्टा भी करता हूं।"

—स्वामी विवेकानन्द

गतांक से आगे

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

सामान्यतया हम अपनी बुद्धि को अपनी उन्नति के लिये खर्च करते रहते हैं; अतः अपनी बुद्धि की पहुँच और परिधि के विस्तार में ही हमारी उन्नति की कामना भी सीमित रहती है और हम उसी सीमा के भीतर उन्नति भी कर पाते हैं। यदि हमारी बुद्धि की पहुँच और परिधि में विस्तार एवं व्यापकता आये तो यह निश्चित है कि हमारी कामनाएँ भी उसी व्यापकता से होकर चलेंगी। एक आम आदमी अपने सांसारिक आवश्यकताओं के तकाजे पर अपनी बुद्धि की पहुँच एवं परिधि को संकीर्ण रखने के लिये बाध्य होता है, परन्तु जो लोग उदार एवं अनासक्त हैं (उनके लिए सांसारिक आवश्यकताएँ ही सबकुछ न होने के कारण) वे अपनी बुद्धि की परिधि को और भी व्यापक कर पाते हैं तथा उसी प्रकार की स्पृहाओं का आश्रय लेकर जीवन यापन करते हैं। हमारे लाटू महाराज भी अपनी युवावस्था में सेवा धर्म में दीक्षित होते समय ऐसे ही धर्म संकट में पड़े थे—वे संसार की सेवा करें या फिर और भी वृहत् एवं महत् उद्देश्य की सेवा अपनावें। वे अपनी बुद्धि को संकीर्ण बनाकर जीवन यापन करें अथवा उदार एवं अनासक्त गुरु की बुद्धि के द्वारा परिचालित हों।

प्रथमतः तो निरक्षर और फिर भावुक होने के कारण उन्होंने बिना किसी द्विधा के आत्मसमर्पण का पथ चुन लिया था।

यदि वे भी हमलोगों के समान तथाकथित शिक्षित एवं बुद्धिसर्वस्व रहे होते तो उन्हें भी निःसन्देह हमारे ही समान अन्तर्द्वन्द्व के भँवर में पड़ना पड़ता। ठाकुर के भक्तों एवं अन्तरंग शिष्यों में जो लोग भी शिक्षित थे, उन सभी के मन में ठाकुर को ग्रहण करते समय संशय और सन्देह उत्पन्न हुआ था, सबने अपनी-अपनी बुद्धि की क्षमता के अनुसार उनकी परीक्षा कर ली थी, यहाँ तक कि किसी किसी ने तो ठाकुर को उन्हें पागल समझकर उनसे दूर ही रहने का प्रयास किया था। परन्तु विस्मय की बात तो यह है कि लाटू ने कभी भी ठाकुर की वैसी परीक्षा नहीं ली। ठाकुर ने जब भी जो भी कहा लाटू ने उसी में विश्वास रखकर वह कार्य किया—उसने पूछा नहीं कि 'यह कार्य क्यों करूँ?' जिस प्रकार एक बालक अपने को माता-पिता के हाथ में सौंपकर निश्चित हो जाता है, उसी प्रकार लाटू भी पितृज्ञान से परमहंसदेव के हाथ में स्वयं को सौंपकर निश्चिन्त हो गये थे। इसीलिये एक बार ठाकुर ने वार्तालाप के दौरान कहा था—'देखो! संसार में दो तरह के साधक हैं—एक तरह के साधक का बन्दर के बच्चे जैसा स्वभाव रहता है तथा दूसरे प्रकार के साधक का बिल्ली के बच्चे जैसा। बन्दर का बच्चा जैसे भी हो स्वयं ही माँ को पकड़े रहता है। ....परन्तु बिल्ली का बच्चा स्वयं ही माँ को नहीं पकड़ सकता। वह केवल पड़ा हुआ मिउ मिउ पुकारता रहता है—फिर माँ जैसा भी करे। ....वह अपनी माँ को पकड़ना नहीं

जानता। माँ उसका क्रन्दन सुनकर स्वयं ही अपने को धरा देती है।' इस प्रसंग में उल्लिखित बिल्ली के बच्चे का स्वभाव सेवक लाटू के जीवन में प्रस्फुटित हो उठा था और इसी कारण लाटू अपने आत्मकर्तृत्व का बोध परमहंसदेव के पादपद्म में समर्पित कर सके थे;

सेवाधर्म प्रारम्भ करने के समय अपने आपको मिटा देना पड़ता है। क्योंकि अपने अहं को मिटाये बिना किसी की ठीक-ठीक सेवा सुश्रुषा या परिचर्या करना सम्भव नहीं। हम सोचते हैं कि सेवा या परिचर्या करना बड़ा आसान है, परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि आन्तरिक सहानुभूति रहे बिना सेवा एवं परिचर्या का कार्य बड़ा बोझिल, बड़ा नीरस, और बड़ा दुःखदायी हो जाता है। ऐसी सेवा में सेवक का मन आशा-निराशा के द्वन्द्व में झूलता रहता है—ऐसी सेवा में सेवक की दृष्टि लाभ-हानि की तरफ लगी रहती है। ऐसे स्थानों में जहाँ लाभ की सम्भावना नहीं है, वहाँ सेवावृत्ति में प्रायः हृदयहीनता ही व्यक्त होती है। ऐसी सहानुभूतिहीन हृदय की सेवा मानव को न तो उन्नीत कर सकती है और न ही उसकी बुद्धि को उदार एवं महत् बना सकती है। परन्तु स्नेह युक्त सेवा मनुष्य को उन्नीत, महत् भी और उदार करती है। स्नेहयुक्त सेवा का अर्थ उत्कंठायुक्त सेवा न समझ लेना चाहिए। इन दोनों में काफी भेद है। उत्कण्ठा में भय का उदय होता है, पर स्नेह में भय नहीं होता। उत्कण्ठा में फल की ओर दृष्टि रहती है जबकि स्नेह में किसी फलाकांक्षा का भाव नहीं रहता। इसीलिये ठाकुर ने लाटू को स्नेह वाली सेवा में लगाना चाहा था। उन्होंने कहा था—"देख, किसी भी चीज की आशा न रखना—सबकुछ उन्हीं के हाथों में सौंप देना। उन्हें धरे रखने से सब पाएगा, सब समझेगा, परन्तु उन्हें छोड़ देने पर पाने का अन्त ही न पा सकेगा।"*

परमहंसदेव सेवा का क्या तात्पर्य समझाना चाहते थे, यह हमने लाटू महाराज से जैसा सुना है, यथावत् लिपिबद्ध कर रहे हैं। (यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि परवर्ती काल में लाटू महाराज जो बातें कहते थे या जो उपदेश देते थे, वह सब रामकृष्ण-कोष से ही संचयित हुआ करता था। वे अपनी बातें अधिक कुछ नहीं कहते थे; परमहंसदेव ने उनलोगों को जैसे चलने को कहा था वही बातें वे अपनी भक्तमण्डली के समक्ष उद्धृत करते थे।)

"जानते हो वे हमें क्या कहते थे! लोगों को खिलाना एक तरह से उन्हीं (भगवान) की सेवा है। सबके भीतर वे (ईश्वर) ही तो विद्यमान हैं। वे ही तो क्षुधा के रूप में सबमें उपस्थित हैं। उस अग्नि में आहुति देने से उन्हीं की सेवा हुई या नहीं?"

इसके उत्तर में एक भक्त ने कहा—"हाँ महाराज! एक तरह से तो वह हुआ ही! परन्तु हम लोगों में वह बोध कहाँ है? हम लोग तो भूख लगने पर खाते हैं, नींद आने पर सो जाते हैं, उनकी बात तो याद नहीं आती। ऐसा लगता है कि मुझे भूख लगी है, मुझे नींद आ रही है। आप क्या इस मैं-बोध को उनका (भगवान) समझकर पकड़ सके हैं?"

लाटू महराज—"हाँ! तुम्हें तो भूख लगती है, नींद आती है। अच्छा, बोलो तो—तुम कौन हो? क्या हो?-हाथ, या पैर या देह या मन या और कुछ? तुम्हारा यह बोध कहाँ से आया?'

एक भक्त—यहा तो मालूम नहीं महाराज! मैं कौन हूँ, यह तो मैं नहीं जानता; पर यह अच्छी तरह समझ में आता है कि मुझे भूख लगी है, मुझे नींद आ रही है, मुझे अमुक चीज चाहिये, अमुक चीज मिलने पर मैं सुखी हो जाऊँगा। आदि।

× × ×

एक अन्य दिन की बात है।

"देखो....! वे कहते थे कि लोगों को दान करना एक तरह से उन्हीं (भगवान) की सेवा करना है। गृहस्थ

*ठाकुर की ये बातें लाटू महाराज ने श्रीयुत नवगोपाल घोष के साथ वार्तालाप के दौरान कही थीं।

**इसके बाद की बातों का यहाँ उल्लेख करने पर हमें भय है कि हम अपने सेवा-प्रसंग के परे हट जाएँगे, इसलिए इस प्रसंग को हम यहीं विराम देते हैं। हम इसे बलराम मन्दिर और काशी अध्याय में पुनः प्रस्तुत करेंगे।

आदमी यदि किसी को दान करे और यदि (बदले में) उसे मान की इच्छा न हो, यश की इच्छा न हो, स्वर्ग की इच्छा न हो, और जिन्हें वह दान करता है उनसे किसी प्रत्युपकार की इच्छा न हो, तो उस दान से भगवान प्रसन्न होते हैं, समझे ! तुमलोग जो दान करते हो, उससे भगवान की ही सेवा होती है, परन्तु चालाकी पूर्वक दान करने से तुम्हारा दान उन तक नहीं पहुँचेगा।"

एक भक्त—बुद्धू क्यों बनना पड़ेगा, महाराज ?

लाटू महाराज—अरे, तुम लोग बुद्धू किसे कहते हो ? उसी को न जो पहले जीतता है पर आखीर में हार जाता है। लेकिन जो पहले तो हारता है और अन्त में जीत जाता है वही तो चालाक बुद्धिमान है। क्यों ऐसा ही है न ?

\+ + + +

एक और दिन की बात है।

"वे क्या करते थे जानते हो....! 'जो कुछ भी क्यों न करो, सब उन्हीं (भगवान) में जा पहुँचेगा।' तुमलोग सोचते हो कि हम तो डुबकी लगाकर भीतर ही भीतर पानी पीते हैं, किसी की क्या बिसात जो समझ सके। अरे, तुमलोग भला क्या चालाकी करोगे ? जो इतना बड़ा संसार चला रहे हैं, उनके सामने तुम्हारी चालाकी कैसे सफल होगी ? तुम्हारा सबकुछ भला बुरा उनके पास पहुँचेगा। यह सब उन्हीं का तो खेल है। वे कहा करते थे—'कुछ भी करने के पहले मन ही मन उन्हें पुकार कर फिर कार्य में लगना चाहिए—काम के अन्तराल में उन्हें पुकार लेना चाहिये, कार्य पूरा हो जाने पर उन्हें पुनः पुकार लेना चाहिए। जो इसप्रकार से सेवा में लग सकता है, उसे फिर क्या चिन्ता' ?"

लाटू जैसा सात्त्विक भाव-सम्पन्न युवक कहीं अकाल-पक्व अवस्था में ही जीवसेवा में लगकर अपना नुकसान न कर बैठे, ठाकुर का इस ओर विशेष ध्यान था। इसीलिये सेवा के प्रारम्भ में ही उन्होंने इनको सावधान कर दिया था। ठाकुर ने उन्हें शास्त्र की भाषा में कायिक वाचिक और मानसिक सेवा की बातें न कहकर, उन्हें इंगित के द्वारा त्रिविध सेवा की बातें बता दी थीं तथा इस सेवा में कैसा भाव तथा मनोवृत्ति होने की आवश्यकता है यह भी यथाकाल और यथास्थान समझा दिया था। वे लाटू को विविध स्थानों पर ले गये थे। विभिन्न भक्तों को दिखाकर उन्हें नाना प्रकार से सावधा करन दिया था। आगामी अध्याय में उसी पर चर्चा होगी।

⊡

"क्या तुम सोचते हो कि मृत्यु होने के बाद भी मुझे तब तक छुटकारा मिल पाएगा, जब तक मेरी सारी सन्तानें, जिनका भार मैंने लिया है, मुक्त नहीं हो जाती ? मुझे तो उनके सारे पाप और पुण्य का भार लिया है। मैं उन लोगों को छोड़ नहीं सकती, जिन्हें मैंने अपनी सन्तान के रूप में स्वीकार किया है।"

रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची को इन्दिरा प्रियदर्शिनी वृक्षमित्र पुरस्कार

नयी दिल्ली, २० नवम्बर। "इन्दिरा प्रियदर्शिनी वृक्ष मित्र पुरस्कार" जो कि राष्ट्रीय परती भूमि विकास बोर्ड, पर्यावरण और वन मन्त्रालय, भारत सरकार द्वारा १९८६ से प्रारम्भ किया गया है, रामकृष्ण मिशन आश्रम राँची को उनके द्वारा छोटानागपुर आदिवासी क्षेत्र में सघन ग्राम विस्तार कार्य द्वारा परती भूमि विकास, विकेन्द्रित पौधशालाओं की स्थापना, आसपास के क्षेत्रो में वनीकरण, दूरदराज के गाँवों में लाखों पौधा लगाने एवं युवा मंडलों को वृक्ष-रक्षण के लिए प्रेरित करने के लिए प्रदान किया गया है। यह राष्ट्रीय पुरस्कार कुल १५ संस्थाओं, तथा ११ व्यक्तियों को दिया गया है।

उपर्युक्त पुरस्कार, १९ नवम्बर १९८६ को प्रधान मंत्री श्री राजीव गांधी ने विज्ञान भवन, नई दिल्ली में हुए एक भव्य समारोह में आश्रम के सचिव स्वामी तत्वबोधानन्दजी महाराज को प्रदान किया। सभा को सम्बोधित करते हुए प्रधान मंत्री ने जन-साधारण से अधिक से अधिक पौधे लगाने का आग्रह किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने यह भी कहा कि स्वीडेन में एक बार श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने वृक्ष रक्षण एवं वनीकरण पर एक प्रभावशाली भाषण दिया था जिसका कि विश्व के सभी वर्गों ने पूर्णरूप से समर्थन किया था।

२० नवम्बर को हुई "प्रेस कान्फरेन्स" में आश्रम के सचिव स्वामी तत्वबोधानन्दजी महाराज ने कहा कि, छोटानागपुर के आदिवासी क्षेत्र में दिव्यायन कृषि विज्ञान केन्द्र का कार्य १९६९ से चल रहा है। कृषि एवं उद्योग के प्रशिक्षण को व्यवहारिक दिशा पर ही अधिक जोर दिया जा रहा है। शिक्षा सूची इस प्रकार निर्धारित की गयी है कि अल्प-शिक्षित व्यक्ति भी आसानी से समझ सके। औद्योगिक शिक्षा के क्षेत्र में मुर्गी-पालन दुग्धशाला, मधुमक्खी-पालन, बढ़ईगिरी, फार्म-मशीनरी, लोहारी एवं कृषि क्षेत्र में फसल उत्पादन, बागवानी, सब्जी उत्पादन, पौधशाला निर्माण एवं वनीकरण इत्यादि के प्रशिक्षण की व्यवस्था है। सभी प्रशिक्षणार्थी बिना खर्च के शिक्षा, आवास एवं भोजन प्राप्त करते हैं। ट्रेनिंग प्रदान करने का उद्देश्य आर्थिक विकास एवं मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता लाना है।